प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५७
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिन्टिंग प्रेस,
दिल्ली

अंग्रेजी में एक छोटी-सी कविता ही लिख डाली है। उस छोटी-सी कविता में भी यहां का वातावरण कैसा सजीव हो उठा है !

घड़ी कहती है—दो घंटे बीत चुके। ये दो घटे यहाँ कैसे बीत गये ? मन कहता है, अभी कुछ देर ठहरो। कार्य-व्यवस्था कहती है, चलो, हटो यहां से। दूर से पंडुक पुकार रहा है—कु कूं-कूं, कु कूं-कू । अरे अरे, क्या जल्दी पड़ी है भागने की—क्या तृप्ति मिल गई ? और यह लीजिये, पंडुक का एक जोड़ा फिर हरसिंगार की डाल पर आ बैठा। किस चकित दृष्टि से वे मेरी ओर देख रहे है ? क्या वे कह रहे है—यहां वहुत लोग आते है, किन्तु कोई तुम्हारे ऐसा धरना तो नही देता ! और, फिर यह कर क्या रहे हो—उजले कागज पर ये क्या काली-काली लकीरें खीचते जा रहे हो ? जाओ, हमारे इस एकान्त-राज्य पर यो दखल मत जमाओ—भागो, भागो !

हां भई, भाग रहा हू। जिसे यहाँ सदा रहना था, जव वही एक दिन इसे छोडकर चल दिया, तव मुझ-जैसे पथिक की क्या बिसात, जो यहाँ ठहर सके ? जाता हूं, ओ पंछी के जोडे, जाता हूं ! तुम यहां निर्द्वंद्व उडान भरते रहो, किलोल करते रहो। वापू की इस कुटिया की धूल सर पर चढ़ाते हुए तुम्हारे ही शब्दो में तुम्हे भी सलाम दे रहा हूं—कु कूं-कूं । कु कूं-कूं !

प्रकाशकीय

प्रस्तुत संग्रह में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक बन्धुवर रामवृक्ष बेनीपुरी के कुछ चुने हुए रेखाचित्र एवं संस्मरण दिये गए हैं। इन रचनाओं को पढ़कर पाठक देखेंगे कि लेखक की दृष्टि कितनी पैनी है और कैसे-कैसे सूक्ष्म चित्र उपस्थित करती है। जहांतक शैली का सम्बन्ध है, लेखक का अपना स्थान है। छोटे-छोटे वाक्यो तथा भाव-भरे शब्दो के प्रयोग से वह भाषा में ऐसी जान डाल देते हैं कि पाठक पढकर मुग्ध रह जाता है। कहीं-कही तो उनके वाक्य बिना क्रिया-पद के ही चलते है, पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो भाव उसमें छल-छला रहे हो। उन जैसे शैलीकार हिन्दी-जगत में कम ही है।

इस पुस्तक में भारतीय नेताओ एवं चिंतको के सस्मरण तो पढ़ने को मिलेंगे ही, साथ ही अन्य अनेक देशों के महापुरुषों के भी। जौहरी यह नहीं देखता कि हीरा कहां पडा है। वह उसे पहचानते ही तत्काल उठा लेता है। लेखक को जहां भी चरित्र की उत्कृष्टता दीख पड़ी है, उसपर प्रकाश डाला है और इस प्रकार अपनी रचनाओ को उन्होंने न केवल सुपाठ्य बनाया है, अपितु शिक्षाप्रद भी।

हमें विश्वास है कि यह संग्रह पाठको को बहुत प्रिय लगेगा। हम चाहते हैं कि अन्य भाषाओ में भी इसका अनुवाद हो जिससे अधिक-से-अधिक भारतीय पाठक इस उत्तम पुस्तक का रसास्वादन कर सकें।

—मंत्री

विषय-सूची

मील के पत्थर

मील के पत्थर

: १ :

बापू की कुटिया में

बापू, यहाँ तुम्हारी इस कुटिया में, तुम्हारे पायताने बैठकर, ये कुछ पक्तियाँ लिख रहा हूँ।

जबतक तुम यहाँ थे, मै नही आया। यह मेरा दुर्भाग्य था या सौभाग्य? दुर्भाग्य तो था ही, क्योकि जिसके आदेश पर अपने जीवन के प्रवाह को मोड दिया, जिसकी आज्ञा पर बार-बार अपनेको सकटो में डाला और सबसे बढ़कर जिस विश्ववद्य व्यक्ति के दर्शन के लिए दूर-दूर देशो के लोग आते रहे—उसकी जिन्दगी में, उसके आवासस्थान पर पहुँचकर, उसकी चरण-रज से अपने मस्तक को धन्य न बना सका, यह दुर्भाग्य नही तो क्या है? फिर बापू, तुमने तो अपनी चरणधूलि से मेरे छोटे-से गाँव को भी एक दिन पवित्र किया था। अत. यह स्वभावत. ही उचित था कि जब तुम यहाँ थे, मैं आता और तुम्हारे दर्शनो से, तुम्हारे चरणस्पर्श से अपने जीवन को कृतकृत्य करता। पर, यह सब नही हो सका, नही हो सका।

किन्तु, देखता हूँ, और आज यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ— आदमी का दुर्भाग्य भी कभी-कभी सौभाग्य बन जाता है। लगता है, "देर आयद दुरुस्त आयद" की कहावत बहुत ही सच है। यदि मैं उन दिनो जाता तो क्या मै तुम्हारे बिस्तरे के इतना निकट, इतनी देर के लिए, स्थान पा सकता था? उस शांत एकान्त में, अकेले-अकेले इस कुटिया से इतना तादात्म्य प्राप्त करने में सफल हो सकता था? अरे, तुम्हारे पायताने बैठकर अपनी लेखनी को इस तरह सार्थक करने का सौभाग्य उन दिनो क्या खाकर, किस पुरातन पुण्य-बल से, पा सकता था?

उन दिनों जो अधिक-से-अधिक हो पाता, वह यह होता कि तुम्हारे

बिस्तरे से सटी, बाँस के डंडे से बनी, उस खिड़की से, बस, तुम्हारी एक झलक मात्र प्राप्त कर सकता, या अधिक-से-अधिक इस दरवाजे से आकर तुम्हे प्रणाम करता हुआ उस दरवाजे से निकल जाता !

तुम्हारा यह बिस्तरा—खजूर की चटाई पर एक गद्दा डालकर और उसे खादी से ढँककर बनाया गया यह श्वेत-शुभ्र बिस्तरा। बापू ! लगता है, तुम अभी-अभी यहाँ से कुछ देर के लिए बाहर गये हो और अभी-अभी उस हृदयहारी मुस्कान के साथ पधारोगे। तुम्हारा वह बिस्तरा, तुम्हारा वह तकिया, तुम्हारी वह तुलसी की माला, तुम्हारा वह प्यारा चरखा—सब-के-सब यही तो कह रहे है—तुम अभी, गये हो अभी आओगे।

किन्तु नही, इस कुटिया के दाहिने द्वार के निकट जो यह घडी और खड़ाऊँ की जोडी है, वह कहती है—अरे, तुम किस भ्रम में हो। बापू क्या हमें छोड़कर कभी बाहर निकलते थे ? वह बाहर कही नही गये है ! तो क्या बापू यही है ? कहाँ है, बताओ, ओ बिस्तरे, हमारे सारे राष्ट्र के बापू कहाँ है ?

बिस्तरा नही बोलता, किन्तु सेल्फ पर रखे बापू के तीनो चीनी बन्दर तो इशारे से कह रहे है—आँखें बन्द करो, जबान बन्द करो, कान बन्द करो—अपनेको आत्मस्थ करो, फिर देखोगे, बापू यहीं है।

और सचमुच पा रहा हूँ, बापू, तुम कही गये नही, यहीं हो, इसी बिस्तरे पर, उस तकिये के सहारे, बैठे हो। हाँ—हाँ, इस शात एकान्त में, जहाँ सिर्फ पंडुको की 'कू-कू' या रहट की 'चर्र-चूं' ही सुनाई पड़ती है, मै इस सारी कुटिया को बापूमय पा रहा हूं।

गांधी मर गया, बापू चल बसे—कह लो, सुन लो। यदि आँखें हों, हिये की आँखें, तो पाओगे, बापू यहां विद्यमान है।

देखिये, बापू वह अपने बिस्तरे पर बैठे अपने यरवदा-चक्र को घुमा है। अभी कुछ देर पहले उन्होंने सामने रखे कलमदान मे कलम ालकर कुछ लिखा है। और अब जरा हट जाइये, थके-मांदे बापू हाथ ुलसी की माला लिये अपने सामने की दीवार में मिट्टी की उभाड़ से ये दो नारियल के वृक्षों के बीच गेरू से लिखे ॐ को निर्निमेष ः से निहार रहे है। और, उस ॐ के ऊपर क्या है ?—हे राम !

हे राम ! आह, कल्पनालोक से उठाकर मैं किस कठोर चट्टान पर पटक दिया गया ! हे राम!—इस शब्द ने कहा—नही, बापू अब हमारे बीच नही रहे ! वह तो हमसे कब के छीन लिये गये !—उस दिन, जब गोलियो के तीन भयानक धडाको के बीच, दुनिया ने अंतिम बार उनके मुख से "हे राम" सुना था !

"जनम-जनम मुनि जतन कराहीं।
अन्त राम कहि आवत नाहीं ॥"

उस दिन संसार ने पाया था, ऋषियो की परम्परा टूटी नही है, बल्कि उसमें नई ज्योति की एक नई कडी जुड गई है। काश, यह ज्ञान उस अज्ञानी को हो पाता, जिसने हिन्दुत्व के नाम पर इतना बडा अनर्थ किया !

किन्तु, यह तो मेरा दावा है ही कि वह हमसे सिर्फ बापू का नश्वर शरीर छीन सका। जो नश्वर है, उसे नष्ट होना ही था—एक-न-एक दिन, कभी-न-कभी। किंतु बापू अमर हैं। अपने दिव्य रूप में वह सिर्फ यहा ही विद्यमान नही हैं, यत्र-तत्र-सर्वत्र उनकी सत्ता और महत्ता व्याप्त है और तबतक व्याप्त रहेगी जबतक आकाश में चांद, सूरज, तारे हैं और पृथ्वी पर उद्भिज, अंडज, पिंडज हैं।

ओ सवा हाथ चौडे और चार हाथ लम्बे बिस्तरे ! इस सादगी में भी तुम कितने महान हो, क्या इसका अहसास तुम्हे कभी होता है? अरे, तुम्हें देखकर कितने रत्न-जडित स्वर्ण-सिहासन भी ईर्ष्या से जलते होगे। क्या कभी उनपर एक क्षण को भी उतना बडा आदमी बैठा होगा, जितने बडे आदमी को कितने ही दिनो, महीनों, वर्षों तक तुम्हे अपने ऊपर आसीन करने का गौरव प्राप्त हो सका ?

यह गौरवशाली बिस्तरा ! जिसके सिरहाने दीवार से सटी काठ की तख्ती, जिसकी कठोरता को कम करने के लिए उतना ही बडा तकिया। थक जाने पर बापू उसी तकिये के सहारे बैठते। बिस्तरे के दाहिने—बापू की कुछ आवश्यक वस्तुएं। पत्तो का बना वह टोकरा, जिसमें वह रद्दी कागज-पत्रों को डाल दिया करते। आज भी उसमें कुछ ऐसे कागज-पत्र हैं। उसीकी बगल में एक बोतल, जिसमें बापू के पीने के लिए ताजा पानी रखा जाता। बोतल की बाजू में, दीवार से सटा, पीतल का थूकदान,

जिसे वापू स्वयं साफ करते। कलमदान, जिसपर अब भी उनकी लेखनी रखी है। यह जादू-भरी लेखनी—इसने अपनी नोंक से न जाने कितने लोगों के प्राणों को उद्वेलित किया? एक स्टैंड पर एक पेंसिल। फिर वह यरवदा-चक्र, जिसके चक्कर से ही सारा भारत नाचने लगा, ठीक उसी तरह जिस तरह कृष्ण की वशी से गोपियां नाचने लगी थी!—अपनेको भूलकर, कुल-परिवार को भूलकर, सारे ससार को भूलकर! उससे सटे कताई के कुछ फुटकर सामान—पूनी, तात आदि। फिर तीन खानो का एक छोटा-सा सेल्फ।

वापू को समझने के लिए इस छोटे-से सेल्फ को भलीभांति देखना ही होगा—इसमें वापू का सारा मानस-ससार समाया है। सबसे पहले इसके ऊपर एक कूट की दफ्ती पर टँगी, बड़ी अच्छी लिखी, लारिमर की इस सूक्ति को पढ़िए—

"When you are in the right, you afford to keep your temper. And when you are in the wrong, you cannot afford to lose it.

—G. C. Larimar.

हा, गुस्सा होने के लिए, क्रोध करने के लिए, तुम्हारे लिए कभी गुजाइश नही है! यदि सच्ची राह पर हो तो उसकी जरूरत ही नही, यदि गलत राह पर हो, तो फिर किस विरते पर, किस मुह से, आंख लाल-पीली करोगे!

सेल्फ के ऊपर पत्थर का एक टुकड़ा, योंही ऊवड़-खावड, कही से उठा लाया गया। यह वापू के लिए पेपरवेट का काम करता था। नीचे के दो खानो में वापू की किताबें। पहले खाने में—(१) सार्थ गुजराती जोड़नी कोश, (२) Rethinking Christianity, (३) हजरत ईसा और ईसाई धर्म और (४) श्रीमद्भगवद्गीता। दूसरे खाने में—(१) रामचरितमानस, (२) श्रीस्वास्थ्य-वृत्ति, (३) आश्रमभजनावली और (४) गीता आणि गीताई। किताबों के खानों के आगे एक आलमुनियम का डव्वा, जिसमें सूत आदि। फिर, वे तीन सुप्रसिद्ध चीनी वंदर, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है। लगता है, वे तीनो वदर इस सूने वाता-

वरण से घबरा उठे है। नही, जैसे एक ने बापू की मृत्यु की खबर सुनकर अपने कान सदा के लिए बंद कर लिये हैं, एक आखो को तलहथियो से छिपाकर रो रहा है और एक अपने मुंह पर हाथ रखकर कह रहा है—अरे, अब हम-तुम क्या बोलेंगे ? जिसे बोलना था, वह तो इस कुटिया को, इस बिस्तरे को, खाली करके सदा के लिए चला गया।

तीन बदरो की बगल में चिकने पत्थर का एक खुशनुमा टुकडा, जिस पर लिखा है—God is Love (प्रेम ही भगवान है); फिर, एक चित्रकारी की हुई डिबिया, जिसमें दो-तीन फुटकर चीजें।

सेल्फ के निचले खाने में कुछ पत्थर के टुकडे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के। ये सब पेपरवेट के काम आते थे। फिर बिहार में प्रचलित कौए के आकार का एक ढक्कनदार बरतन।

बिस्तरे के दूसरी ओर तीन छोटे-छोटे डेस्क, जिन्हे वह शायद लिखने के समय व्यवहार में लाते थे। डेस्को के बाद, खभे से सटी चटाई पर एक छोटा-सा कालीन, जिसपर दीवार से लगा एक तकिया। यही मान्य अतिथि बैठाये जाते और वे बापू से घुल-मिलकर बातें करते। फिर सारे घर में चटाइयाँ-ही-चटाइयाँ।

खजूर की ये चटाइयाँ कितनी भाग्यशालिनी रही हैं ! इन्हीपर देश-विदेश के बडे-बड़े व्यक्ति बैठते और बापू के मुख से निकले वचनामृत का पान करते। बापू अपने चक्र को घुमाते हुए उनसे बातें करते जाते। यो काम के साथ बात को मिलाकर मानो हमें सदा चेतावनी देते—देखो, समय बर्बाद मत करो। तुम्हारी बातें भी तुम्हारे कर्म के चक्र को कभी नही रोक सकेंगी। जिन चटाइयो पर कभी नेहरू, राजेन्द्रप्रसाद, पटेल के समान देश के बडे-से-बडे लोग और ससार के बडे-से-बड़े राजनीतिज्ञ, पत्रकार, साहित्यिक बैठते थे, उनपर आज इस दुपहरिया में अकेला मै बैठा हूं—इस बात की कल्पना भी भाव-मुग्ध कर रही है।

किन्तु इन चटाइयों पर बैठना खाडे की धार पर बैठना था, क्योंकि इन चटाइयो के ऊपर एक दफ्ती पर वह क्या लिखा हुआ टगा है ? उसे पढ़िये—

"The issue of lying is in deception, not in words : a lie

may be told by silence, by equivocation, by the accent on syllable, by a glance of the eye, attaching a peculiar significance to a sentence, and all these kinds of lies are worse and baser by many degrees than a lie plainly worded."[1]

—Ruskin

बापू की इस कुटिया के तीन भाग हैं। एक भाग यह है, जहां मैं बैठा हूँ, जहां कभी बापू रहते थे। इसके बगल में, मध्य भाग में, एक कोठरी है, जिसमें एक चौकी पर एक बिस्तरा सिमटा हुआ रखा है। इस कोठरी में, अंतिम दिनो में अमृतकौर रहती थी। बिस्तरा गोल कर वह बाहर गईं कि बीच में ही वह दुर्घटना घटी, बेचारी फिर लौटकर नही आई।

इसके तीसरे भाग में बापू का स्नानागार है। कितनी सफाई, कैसी स्वच्छता! बापू अपने कमोड को अपने हाथो कैसा साफ रखते! उसकी सफाई के लिए लकड़ी का ब्रुश है, फिनाइल की शीशी है। कमोड के आगे, उससे सटा एक सेल्फ है, जिसमें पहले कुछ किताबें रहती। बापू शौच के समय भी पढा करते। कमरे मे पानी की बाल्टियां, लोटे, मिट्टी के हडे आदि है। इस भाग के दो हिस्से हैं। एक में शौच और स्नान के ये सामान हैं। दूसरे में एक चौकी है, कुछ तख्ते हैं—बापू के शरीर में यही तेल की मालिश की जाती थी।

बापू की कुटिया की एक-एक वस्तु को अपलक दृष्टि से देख रहा हूँ और लिख रहा हूँ। बांस और लकड़ी की बनाई हुई यह कुटिया; ऊपर खपरेल। दीवारें बास की फट्टियो की हैं, जिनपर चटाइयाँ लगाकर ऊपर से मिट्टी से पोत दिया गया है। कही भी चूना या किसी रग का प्रयोग नही किया गया है। दरवाजे और खिडकिया काफी हैं—हवा और

---

[1] "झूठ शब्दों में निहित नहीं है, छल करने में है। चुप्पी साधकर भी झूठ बोला जा सकता है। दोहरे अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग द्वारा, किसी शब्दांश पर जोर देकर, आंख के संकेत से और किसी वाक्य को विशेष महत्व देकर भी झूठ का प्रयोग होता है। वस्तुतः इस प्रकार का मिथ्या प्रयोग साफ शब्दों में बोले गए झूठ की अपेक्षा कई गुना बुरा है।

रोशनी की कमी नही।

वापू, तुम चले गये। यह सदमा हमने, सारे राष्ट्र ने किसी तरह सह ही लिया। किन्तु जब यह सोचता हूँ कि वांस, काठ और चटाई से वनी यह कुटिया आठ-दस वर्षों के वाद नही रहने पायगी—लाख चेष्टा करने पर भी समय का कीट इसे चाट जायगा, इस कुटिया की जगह यहा शून्यता-ही-शून्यता रहेगी, तव हृदय और भी विचलित हो जाता है। मानव को पूजकर हमें संतोष नही, तो हम उसकी पत्थर की मूर्ति बनाकर पूजते और सन्तोष कर लेते हैं, किन्तु उससे सम्बद्ध खर-पात से कैसी ममता हो जाती है कि, हम मान लेते है, इसकी पूर्ति तो हो नही सकती।

हा, नही हो सकती। कैसा भी सगमरमर क्या, सोने का मन्दिर भी एक दिन तुम यहां बनवा लो, इस कुटिया की क्षतिपूर्ति वे कर नहीं सकेंगे। इच्छा होती है, मैं जोर देकर यह कहू।

वापू की कुटिया! क्या कोई ऐसा उपाय नही कि वापू के वाद कम-से-कम तुम्हे तो सदा इसी रूप में देखने का सौभाग्य पाता रहूं। तुम नही बोल रही—तुम्हारा यह नीरव मौन कितना असह्य लग रहा है! काश, तुम समझ पाती, ओ वापू की कुटिया!

× × ×

और वापू, जब तुम्हारी इस कुटिया में, तुम्हारे विस्तरे के पायताने बैठकर यह लिख रहा हूँ, तुम्हारी कितनी मूर्त्तियां आंखो के सामने आकर मॅडरा रही है!

उनमें से चार मूर्त्तियां तो मेरे जीवन से ऐसी लिपटी है कि क्या आजीवन उनसे अपनेको मुक्त कर पाऊँगा?

पहली मूर्त्ति—जब मैं किशोर ही था। देहात से आया था, शहर में पढने। शुरू से ही राष्ट्रीयता की ओर झुकाव। तुमने दक्षिण अफ्रीका में जो कुछ किया था, पड चुका था। तुम उन दिनो कर्मवीर गांधी के नाम से हिन्दी-संसार में अभिहित थे। एक दिन मै अपने स्कूल में पढने जा रहा था कि शहर के एक राष्ट्रकर्मी से भेंट हो गई। वह मेरी प्रवृत्तियो को जानते थे। बोले, कर्मवीर गांधी इसी ट्रेन से चम्पारन जा रहे है। क्या उनके दर्शन नही करोगे?

स्कूल की ओर से स्टेशन की ओर मेरी दिशा वदल गई। स्टेशन पहुँचकर उस थर्ड क्लास के डब्बे की ओर वढ़ा, जिसमें तुम सफर कर रहे थे।

आज भी याद है वापू, तुम्हारे दर्शनों के लिए मेरे मन में कैसा तूफान उठ रहा था, पैर डगमगा रहे थे, कलेजा धड़धड़ कर रहा था। मै तुम्हें देखूँगा—कैसे होगे तुम ? तुम—कर्मवीर गांधी ! तुम्हारे कई चित्र देखे थे, किन्तु क्या चित्र सही रूप दे पाते है ? उन चित्रो में दो चित्र प्रमुख थे : एक, जव तुम एक ढीला कुर्ता पहने, कंधे से एक झोला लटकाये, हाथ में डंडा लिए सत्याग्रह के लिए प्रस्थान कर रहे हो। दूसरा, तुम्हारे वदन में मिर्जई, सिर पर काठियावाडी मुरेठा—ढीला-ढाला। मै जल्दी-जल्दी उस डब्बे के निकट पहुँचा, जिसके दरवाजे पर कुछ लोग खड़े थे। हाँ, कुछ ही लोग ! मै एक खिडकी के निकट खड़ा होकर भीतर झाँकने लगा—कितनी उत्सुकता से, कितनी व्यग्रता से !

किन्तु तुम कहाँ हो ? उन दोनों तस्वीरो के आधार पर एक-एक चेहरे को देख रहा हूं, किन्तु कहाँ पा रहा हूँ ? एक सज्जन दीखे, गोरे-भभूके, काफी कद्दावर, चेहरे से रौव टपक रहा ! हाँ—हाँ, यही गाँधीजी होगे। जो इतना वड़ा आदमी है, जिसने कितने कमाल किये है, जो कर्म-वीर है, जो अकेला नीलहे गोरो से लड़ने चम्पारन जा रहा है—उसे तो ऐसा ही तेजस्वी, रौवदार, भारीभरकम होना चाहिए ! किन्तु, उन चित्रों से जरा भी समता तो इस व्यक्ति में नही मिलती !

मै इसी तरह परेशान था कि वह सज्जन मेरे निकट आये और वोले—गांधीजी को देख लिया ? "जी···" मेरे मुँह से पूरी वात भी नही निकली। उन्होने वताया, वह, जो उस रौवदार आदमी के आगे के वेंच पर वैठे है, वही गाधीजी है।

वापू, तुम्हारी वह सूरत आज भी याद है ! रूखा-सूखा तुम्हारा चेहरा, जिसपर सवसे प्रमुख वे दोनो कान !—जैसे संसार के सारे दुख-दर्द सुनने को व्याकुल। सिर पर वह टोपी—जो पीछे चलकर अपने सुवरे रूप में गाधी-टोपी के शुभ नाम से अभिहित हुई। शरीर में पतले कालर वाला कुर्ता— खुरदरे कपड़े का। कमर में घुटनों तक की धोती और पैर

में चप्पल ! तुम्हारे हाथ में उर्दू की एक प्रारम्भिक पुस्तिका थी, जिसे तुम पढ रहे थे और कुछ कठिनाई होती तो मुस्कराकर उस रौबदार चेहरे-वाले को दिखाते और पूछ लेते। उसी सज्जन ने बताया, वह रौबदार चेहरेवाले सज्जन मौलाना मजरुल हक़ थे। उन दिनो तक तुम्हारे पैर छूने का रिवाज़ नही चला था, तो भी क्या मेरा मन बार-बार उनके छूने को नही ललकता था !

उसके पाच साल बाद १९२१ में तुम्हे देखा। असहयोग का बिगुल फूकते तुम मुजफ्फरपुर पहुँचे थे। ओहो, कैसी भीड़ उमडी थी तुम्हारे दर्शनों के लिए! दर्शनार्थियों ने,तुम्हारे पैर छू-छूकर उन्हे घायल कर दिया था ! तुम्हें निकट से देखूँ, इसके लिए मैंने स्वयसेवको में नाम लिखा लिया था। तुम मना कर रहे थे, हम लोगो को हटा रहे थे, किन्तु उस पागल भीड को कौन रोके ! तुम्हारी वेशभूषा में अधिक परिवर्तन नही हुआ था। हाँ, कपड़े और भी खुरदरे हो चले थे ! किन्तु, ज्योही तुम मुँह खोलते, लगता, ज्वालामुखी ने मुँह खोला है—एक-एक शब्द, क्रांति के शोले ! तुम खुले आम सरकार को "शैतानी सरकार" कहते थे ! इससे सब प्रकार का सहयोग हटाने के लिए जनता को ललकारते थे और एक साल के अन्दर ही स्वराज्य स्थापित कर लेने की घोषणा करते थे। उन दिनों लाउडस्पीकर कहा था ? किन्तु उस तरंगित जन-समुद्र में भी तुम्हारी आवाज कोने-कोने में पहुँचती थी !

तीसरी बार तुम्हे अत्यन्त निकट से देखा, १९३४ में, जब तुम भूकम्प से तबाह और बर्बाद मेरे गाँव में गये थे ! बाढ के कारण पहले से ध्वस्त-पस्त वह गाव—पेड सूख गये, पशु मर गये, मलेरिया से जनसख्या आधी हो गई। उसपर भूकम्प ने जैसे उसकी कमर ही तोड दी। तुम मेरे गाव में गये, नाव पर चढकर उस विषैली झील को देखा। नाव पर जाते हुए तुमने मल्लाह से कहा, "जरा मिट्टी दिखाओ।" उसने नाव की लकड़ी से मिट्टी निकालकर तुम्हे दिखलाई, तुमने उस मिट्टी को हाथ में लिया, अच्छी तरह देखा, फिर बोले—"इस मिट्टी में तो सोना पैदा हो सकता है!" और लो, तुम्हारा वचन सार्थक हुआ। दूसरे साल से ही वहा कितनी अच्छी फसल आने लगी !

उस समय तुम्हारा वह वेश स्थायी वन चुका था—कमर में घुटनों तक की धोती जिसके ऊपर घड़ी लटक रही। वदन पर चादर। किन्तु तुम्हारे चेहरे पर कितना तेज! मेरे बूढे चाचा ने चौदह साल वाद तुम्हे देखकर कहा था—हो, गांधीजी त दिन-दिन जुश्रान भेल जाइछथुन! हाँ, १६२१ की अपेक्षा तुम कही अधिक स्वस्थ और तेजोमय दीख पड़ते थे!

और अन्तिम मूर्त्ति तुम्हारी वह, जब हिन्दू-मुस्लिम-दंगों के बाद तुम विहार आये थे! पटना के मैदान में तुम्हारा प्रवचन होता था। यों मै अलग-अलग से तुम्हे देख आता था, तुम्हारे प्रवचन सुन लिया करता था। किन्तु उस दिन एक मित्र ने मुझे पकड़कर मंच पर विठला दिया। तुम निकट ही वैठे थे, प्रार्थना शुरू हुई। लड़कियों ने रामधुन और भजन शुरू किया। तुम ध्यानस्थ हो गये—ऐसे कि लगता था, किसी कलाकार द्वारा गढी काँसे की सुघड़ मूर्त्ति यहाँ स्थापित की गई हो। शरीर में जरा भी कंपन, स्पदन कहाँ? मै तुम्हारे चेहरे को गौर से देख रहा था। उसी समय न जाने कहाँ से एक मच्छर आ गया और वह वार-वार तुम्हे डंसने लगा। जव-जव वह डंसता, तुम धीरे-से हाथ उठाते और इस सवुक से उसे हटाते कि कही उस वेचारे को चोट न लग जाय! ओहो, वापू, एक तुच्छ मच्छर पर भी ऐसी ममता—तुच्छ मच्छर पर, दुष्ट मच्छर पर! किन्तु वह अपनी दुष्टता क्यों छोडे! संयोग से मेरा मझला वच्चा साथ था। उससे यह नही देखा गया, एक पंखा लेकर तुम पर झलने लगा, मच्छर भाग गया।

किन्तु जव लडकियाँ भजन गाने लगी, वार-वार तुम थोड़ा सिहर उठते! वे कुछ वेसुरा गा रही थी! यह सिहरन उस वेसुरेपन पर! नही-नही, जव भजन समाप्त हुआ, तुमने पूछ ही लिया—क्यो, वेसुरा हो गई थीं, तुम! कौन कहता है, वापू, कि तुम कलामर्मज्ञ नही थे? यो तो मैं तुम्हे कलाकार ही मानता आया हूँ! सादगी में कला क्या होती है—तुमने हमें वताया, जो रंगो और रूपो के घटाटोप को ही कला मानते आये थे!

तुम्हारी ये चारो मूर्त्तियाँ—कर्मवीर मूर्त्ति, क्रान्तिमूर्त्ति, त्रातामूर्त्ति, कलाकार-मूर्त्ति—आज जव मैं तुम्हारे पायताने वैठा हूँ, वार-वार ध्यान

में आ रही है और जब-जब कल्पना करता हूं, अब तुम्हें प्रत्यक्ष नही देख सकूंगा, तुम हमें छोडकर चले गये, तो कलेजा मुंह को आता है, आंखें छलछला उठती हैं, कलम आगे बढना नही चाहती ! आह ! क्या सचमुच हम तुम्हें नही देख सकेंगे अब ?

अब मैं बापू की कुटिया के आंगन में आ बैठा हूं। निस्सन्देह बापू भी कभी-कभी यहां आकर बैठते होगे।

इस आगन के तीन तरफ छोटे-छोटे पेड हैं। कहा जाता है, इन पेडो में से अधिकांश को बापू ने अपने हाथो से लगाया था। इन सब पेडो में सबसे बड़ा, सघन और सजीला लगता है एक पीपल का पेड, जिसे बापू के हाथो से लगाये जाने का निश्चित सौभाग्य प्राप्त है। यह पेड, इस कुटिया के सदर दरवाजे पर प्रहरी-सा खड़ा है। एक पीपल का पेड था, जिसकी छाया ने सिद्धार्थ गौतम को बुद्धत्व दिया और एक यह पीपल है, जिसने अपनी छाया आधुनिक बुद्ध से प्राप्त की है। बापू ने इसे रोपा था, सींचा था, बड़े लाड-प्यार से इसे बड़ा किया था। बुद्ध-गया के उस पेड़ से इसकी समता देने में शायद कुछ लोगो को एतराज हो, किन्तु मेरी कल्पना की आंखें देख रही है, समय के प्रवाह के साथ वृद्धि पाती हुई इसकी डालियो की तरह ही इसकी गरिमा और महिमा बढती जायगी और एक दिन आयगा, जब भारत शाति-सदेश के रूप में इसकी डालिया ससार के कोने-कोने में भेजने का लोभ सवरण नही कर सकेगा।

आंगन के उत्तर की ओर क्रमश ये पेड़ हैं—नीम, हरसिंगार, एक अज्ञात फूल का पेड और फिर नीम। पहले नीम के पेड़ से सटा एक गुलाब का झाड है और एक बेले का। मुझे बताया गया है, यहां बापू ने गुलाब के बहुत-से झाड लगाये थे, वे अच्छे फूल भी देते थे, किन्तु, जब संसार का चलता-फिरता गुलाब चला गया, तो फिर वे गुलाब क्यों न सूख जायं, झड पड़ें ? हा गुलाब का यह एकाकी झाड, अपनी सारी श्री और शोभा खोकर भी उस बीते हुए वसंत की याद दिला रहा है। हां, उन फूलो की जगह अब सूरन के कुछ सुकुमार पौधे अपनी हरीतिमा से मन को अवश्य मुग्ध कर रहे है।

पश्चिम ओर की पात में पेड़ो का क्रम यो है—बेल, हरसिंगार, नीम,

एक अज्ञात वृक्ष, नीम, फिर हर्रसिंगार और इन सवका शृंगार वह पीपल का पेड़। शरद ऋतु है, सभी पेड़ो के पत्ते धुले-पुंछे है। हर्रसिंगार के पेडों से रह-रहकर फूल चू पड़ते है। उस अज्ञात नाम पेड़ पर गिलहरी की एक जोडी ऊधम मचाये हुई है। अभी एक जोड़ा पंडुक उड़ता हुआ आया, नीम के पेड़ पर वैठा और फिर, शायद मुझ अपरिचित को देख-कर, फुर्र से उड गया!

दक्षिण ओर हर्रसिंगार, आम और अशोक की त्रयी। वार-वार सोचता हूं, इन तीन पेड़ों का यह सयोग आकस्मिक हुआ, या वापू ने कुछ सोच-समझकर भारतीय वृक्षो के इन तीन शिरोमणियो को यहां एकत्र किया था—एक में फूल-फूल, एक में फल-फल और एक में पत्ती-पत्ती। एक में गंध-गंध, एक में रस-रस, एक में रूप-रूप। और, रूप, रस, गंध में ही तो संसार की सारी नियामतें सन्निहित है।

वापू की इस कुटिया के सामने, पूरव की ओर एक कुटिया है, जिसमें वापू के निकटतम अतिथि आकर ठहरते थे। जव आचार्य नरेन्द्रदेवजी दमे से सख्त पीड़ित थे, वापू ने उन्हें लाकर यही टिकाया था। उन्ही दिनों इंगलैंड से क्रिप्स-मिशन आया था। वापू दिल्ली गये, किन्तु तुरन्त वापस लौटे। प्रेस-प्रतिनिधियों ने पूछा—आप थोडा और क्यो नही ठहर जाते? वापू ने कहा था—कोई डाक्टर अपने रोगी को किस तरह छोड सकता है? वापू अतिथिनवाज़ थे।

इस कुटिया के उत्तर की तरफ महादेवभाई की कुटिया है। काफी वड़ी है वह कुटिया। वह सपरिवार रहते थे। उस कुटिया से वापू की कुटिया तक आने के लिए एक पगडंडी है। उसी पगडंडी से महादेव-भाई आते और प्राय. वापू भी वहां जाते। अव पगडडी पर घास उग आई है। जव जानेवाले जाते रहे, तव फिर यह पगडंडी अपना मुंह क्यो न छिपा ले?

दक्षिण तरफ वा की कुटिया है—पूजनीया वा की। जव उस कुटिया के भीतर घूम रहा था, वार-वार वा की महिमा हृदय में खिल उठती थी। इस भोली-भाली अपढ स्त्री ने, न जाने किस पुण्य-प्रताप से, वापू-सा पति-रत्न प्राप्त किया था! राम की सीता की तरह वापू की वा भी इतिहास

का एक अमर चरित वन गई हैं । इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नही है ।

अभी कल एक भाई ने वर्धा में वा के संवध में एक अत्यन्त मनोहर कहानी सुनाई । वापू के जन्म-दिवस के अवसर एक सज्जन उनके पास अन्य उपहार-सामग्रियो के साथ एक साड़ी भी लाये । साडी देखकर वापू ने हँसते हुए कहा—"क्या अव मुझे साड़ी भी पहननी पड़ेगी?" सव लोग हँस पड़े। उस सज्जन ने कहा—"यह वा के लिए है ।" "तो इसे वा के जन्म-दिन पर देना चाहिए था"—वापू ने फिर हँसते हुए कहा और फिर वोले—"लेकिन उस वेचारी को तो यह मालूम नही कि उसका जन्म-दिन कौन-सा है ।" वा भी वही थी, कुछ झेंप गई । फिर वापू ने कहा—"किन्तु, तुम हो मुझसे वड़ी, इसमें तो कोई शक ही नही ।" इतना कहकर वह जोरों से खिलखिला पडे और सारी कुटिया हँसी से ओत-प्रोत हो गई ।

वा उम्र में वापू से वडी थी या छोटी, इसका निर्णय उन दोनो के सिवा कौन कर सकता था ? किन्तु, जिस तरह छाया कभी-कभी मनुष्य से भी वड़ी हो जाती है, उसी तरह नारी-आदर्श की दृष्टि से वा का चरित वहुत ही महान् था, इसे तो वापू ने भी कई वार स्वीकार किया था ।

वा की कुटिया में एक चित्र है । वापू वाहर से थके-हारे आये हैं और कुर्सी पर वैठ गये हैं और वा पानी लेकर उनके पैर पखार रही हैं । यही भारतीय नारी है । ओ सभ्यता के चकाचौंध में भूली हुई हमारी वहनो ! तुम उन्हे गँवार कह लो, किन्तु भारतीय इतिहास ऐसी ही नारियो के चरित्र-चित्रण से पूत-पवित्र है ।

वा की कुटिया के सामने खुला मैदान है। वही वापू की प्रार्थना होती थी । कीचड़ और धूल से वचने के लिए मैदान में छोटे-छोटे चिकने कंकड डाल दिये गए है । मैदान के वीच लकड़ी के दो खूंटे है । मुझे आश्चर्य हुआ, यह क्या है ? पता चला, प्रार्थना के समय इन्ही खूंटो मे लगा कर एक चौड़ा तकिया रख लिया जाता था । और वापू उसीके सहारे वैठते थे ।

वा की कुटिया के वगल में रसोई-घर है । उससे थोड़ा हटकर ईंट

का एक डार्क-रूम है, जिसे बापू ने कनुगांधी के लिए फोटो तैयार करने को बनवा दिया था। बापू की कुटिया के आगे एक और कुटिया है, जो पहले अतिथि-निवास था; किन्तु अब आखिरी-निवास कहलाता है, क्योकि सेवाग्राम छोड़ने के पहले बापू ने इसी घर में विश्राम किया था। अब इस घर में विनोबाजी आकर ठहरते है। अपने भूदान-यज्ञ के सिलसिले में इसे छोड़ने के पहले उन्होने उसके बगल के खेत में कुछ केले लगाये थे। उनके पेड़ अब बढ़कर जवान हो गए हैं। कितने हरे-भरे और सुहावने लगते हैं।

आज न बापू है, न बा है, न महादेवभाई हैं। अतिथिशाला, आखिरी-निवास, सब सूने-सूने है। किन्तु ऋषियो को खोकर भी तीर्थ-स्थान अपना महत्व नही खो सके, और न यह स्थान ही अपना महत्व खो सकेगा; बल्कि ज्यो-ज्यों समय बीतता जायगा, उसके कण-कण महत्व प्राप्त करते जायगे।

बापू की इस कुटिया के चारो ओर कुटियों की एक पूरी बस्ती ही बस गई है। फूल-फल ,पेड़-पौधो की भरमार है। सचमुच लगता है—ऋषियो की तपोभूमि बहुत-कुछ ऐसी ही होगी। धन्य थी वह घडी, जब बापू अपनी लकुटी लिये इस स्थान पर पहले-पहल पधारे! जो सदियो का सेगाँव था, वह सेवाग्राम में परिणत हो गया!

अभी-अभी भोजन-घर में भोजन करने गया था। वहां भारत के कोने-कोने का प्रतिनिधित्व करने वाले नाना तरह के चेहरो के दर्शन हुए—स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढे, जवान। लगभग एक दर्जन विदेशी भाई-बहनें भी पीढियो पर बैठकर खा रहे थे। आर्यनायकम्‌जी से पूछने पर पता चला, वे लोग भिन्न-भिन्न देशों से आये है और ऐसे लोगो का तांता लगा ही रहता है। आज जब वर्धा से आ रहा था, देखा, दो गोरे नौजवान, श्रमणार्थियो के थैले पीठ पर बांधें, यहाँ से लौट रहे है। उन्होंने हमें देखते ही भारतीय ढंग से नमस्कार किया। ये विदेशी भाई-बहनें भी भारतीय ढंग से ही रोटियो को हाथ से तोड़-तोड़कर खा रहे थे।

दर्शक-पुस्तिका में देख आया हूं—तरह-तरह की लिपियां, तरह-तरह की लिखावटें, तरह-तरह की भाषाएं, तरह-तरह की बातें। एक कवि ने

: २ :

प्रेमचन्द् अमर हों

काशी, कम्पनीवाग के निकट का वह चौराहा। एक साधारण-सा व्यक्ति खड़ा। कद, पोशाक, खड़े होने का ढंग—सभी साधारण। सिर खाली। विशुद्ध आर्यत्व की वंश-परम्परा सूचक ललाई अभी नही खोई, वैसे अस्त-व्यस्त वाल, हवा के झोके से उड़ रहे। जिन्दगी की कितनी धूप-छांहों के चिह्न लिए गोरा चेहरा। ललाट में कितनी सीधी रेखाएं—गालो पर कितनी सिकुड़नें। बे-तरतीव-सी मूंछें। दाढ़ी मानो कई दिनों से नाई की प्रतीक्षा में। शरीर में कमीज, जिसके ऊपर के दो वटन खुले हुए। एक हाथ में छाता। एक हाथ से वह उड़-उडकर ललाट से छेड़खानी करनेवाले वालों को सम्हालें या विगड़ैल मूछो को। साफ-सी दीखनेवाली धोती। साधारण-सा ही जूता।

वह उत्सुक आँखो से एक ऐसे इक्के की तलाश में है, जिसपर सवारी की एक ही जगह वची हो और जो छावनी की ओर जाता हो।

जव भाई शिवपूजनजी ने वताया कि यही है हिन्दी के उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्दजी तव मुझे कम आश्चर्य नही हुआ, क्योंकि उस समय मैंने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया ही था और इसे सोने और शहद से भरा-पूरा समझ रखा था। उपन्यास सम्राट और इस सीधे-सादे वेश में! यह तो अव समझ रहा हूं कि लक्ष्मी और सरस्वती की सौतियाडाहवाली नानी की कहानी में कितना सत्य है!

इसके वाद लगभग दो वर्षो तक प्रेमचन्दजी से प्रायः भेंट होती। मैं 'वालक' के सम्पादन और छपाई के सिलसिले में ज्यादातर काशी ही रहता और प्रेमचन्दजी वही अपना सरस्वती प्रेस चलाते। प्रेस की हालत अच्छी नही थी। प्रेमचन्दजी उसे ठिकाने पर लाने के लिए काफी मेह-नत करते। दस वजे दिन से शाम तक जुटे रहते। मेरा खयाल है, किसी अच्छे सहकारी या सेवक के अभाव के कारण अत्यधिक मेहनत

और चिन्ता करने से ही प्रेमचन्द पर मृत्यु का वार इतना जल्द हो सका। सचमुच जब कभी सोचता हूं कि प्रेमचन्द जैसे कलाकार को भी तगदस्ती और झंझटो से लडाइया करनी पडी, तब अपने साहित्य के विकास की अवस्था का अन्दाजा लगा पाता हूं। उफ, अभी हमारे लिए दिल्ली बहुत दूर है!

उस पहली मुलाकात से, करीब-करीब उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पहले तक, मेरी उनकी अच्छी जान-पहचान रही, खत-किताबत रही और जब-तब उनके दर्शन भी कर आता।

उनके प्रति मेरे वही भाव थे, जो किसी देवता के प्रति उसके पुजारी के होते हैं। मै उन्हे हिन्दी की साहित्य-कला का साक्षात अवतार मानता और उस कला के एक उपासक की तरह अवतार की मानसिक पूजा करता। यही कारण है कि मै उनके मित्र की तरह उनके दिल में बैठकर उन बातो को नही ले पाया, जिनके आधार पर उनके मनस्तत्व की अच्छी-सी तस्वीर खीच सकू। उनके बारे में मै ज्यादा-से-ज्यादा जो कह सकता हूं, वह यही कि आत्मा से साधारण-सा दीख पड़नेवाला वह आदमी, आदमी की हैसियत से भी, साधारण नही था। उसकी इस साधारण-सी सूरत-शकल के अन्दर एक महान् आत्मा छिपी थी। आप उसे गुदडी मे लाल कहो, या मेरी भाषा मे, राख से ढकी चिनगारी कहो। सभी महान पुरुषो की तरह वह सीधा-सादा था, इसीलिए वह सदा झझटो मे रहा, लोगो ने उससे फायदे उठाए, उसे धोखे तक दिए, वरना वह भी एक ठाठ की जिन्दगी बसर करता, दुनिया की नजरें उसकी चकाचौंध का लोहा मानती। किन्तु उसके इस सीधेपन मे एक बांकपन भी था, जो सभी असाधारण पुरुषो में पाया जाता है। इसी बांकपन ने उसे समाज, सरकार और पूंजीवाद से मोर्चे-पर-मोर्चे लेने को प्रेरित किया। उसके हाथ मे कलम थी तो क्या हुआ, वह योद्धा था। जब उसने देखा, समाज उसके प्रेम-सम्बन्ध मे बाधक हो रहा है, उसने उसे जमकर ठोकर लगाई। जब देखा, सरकार अनीति की राह पर बेधड़क बढती जा रही है, उसने उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जब देखा, शुद्ध साहित्य के क्षेत्र मे भी पूंजीवाद अपना विषैला प्रभाव जमाए जा

रहा है, उसने उसके खिलाफ युद्ध किया। अपना प्रेस, अपना प्रकाशन। क्या वह इनसे पैसे वटोर कर मालामाल होना चाहता था? गलत वात। यदि यह कामना उसकी होती तो उसके प्रेस, पत्रिका और परिवार को हम किसी दूसरे ही रूप में देखते। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं, जो रद्दी चीजो का प्रकाशन करके लखपति वन गए। फिर प्रेमचन्द का क्या कहना! किन्तु यहाँ तो उसका वाकपन था—टूट जाय पर मुडे नही, एक अड, एक टेक!

उसकी महानता, उसकी असाधारणता की सवसे वड़ी सूचक है उसकी कला। हिन्दी-साहित्य की विकास-धारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मील के पत्थर' हमें गिनने पड़ते हैं, उनमें एक को, जो हमारे सवसे निकट का है, हम प्रेमचन्द के नाम से अभिहित कर सकते हैं। हिन्दी के इतिहास लेखको ने हमारे साहित्य के काल-निर्देश में मनमाने ढंग से काम लिया है, उसकी कोई वैज्ञानिक भित्ति नही। साहित्य हमारे ममाज का दर्पण है। सरह से लेकर आजतक का हमारा साहित्य इन दस-वारह सौ वर्षों के हमारे समाज की जीती-जागती तस्वीर है। इसके दरम्यान समाज जिस तरह सोया, जिस तरह करवटे वदली, कभी उठा, कभी फिर चादर तानकर सो गया, ठोकरो ने जिस तरह उसे फिर जगाया और आज वह जिस कशमकश मे है, सवके अलग-अलग चित्र हमारे साहित्य मे भरे पड़े हैं। सरह, चन्द, विद्यापति, कवीर, तुलसी सूर, विहारी, भूषण, हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द—जिस दिन आप अपने साहित्य का काल-विभाग वैज्ञानिक भित्ति पर करेंगे, इन्हींको आधार मानकर आपको चलना पडेगा। सरह—हमारा समाज वौद्ध-धर्म से हटकर तन्त्रवाद का पूजक है—दुनिया रहस्यमय, सवसे रहस्यमयी नारी। चन्द—वौद्ध-धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में क्षात्रधर्म, किन्तु विलासिता साथ-साथ। विद्यापति—हिन्दूधर्म राज्य से वचित, विलासिता मे डूवा। कवीर—पराजय को समन्वय में वदलने की चेष्टा। तुलसी—नश्वरता पर भक्ति का पुट। सूर—भक्ति में शृंगार का पुट। विहारी—शृंगार ही शृंगार, यानी विलास का घोर दौर-दौरा। भूषण—फिर एक जागरण, किन्तु क्षणिक। हरिश्चन्द्र—एक नई शक्ति ने नई ठोकरें लगाई, 'जागो, जागो रे भाई'

की पुकार। प्रेमचन्द—हमारे पीडित समाज में एक नए वर्ग की अगवानी की सूचना। और, चूकि यह नया वर्ग एक विल्कुल नए समाज के पुनर्गठन की सूचना देता है, अतः इनमें भी प्रेमचन्द की महत्ता कहीं अधिक व्यापक है। सरह से लेकर हरिश्चन्द्र तक यद्यपि कितने ही उत्थान-पतन हुए है, तथापि इनका नेतृत्व एक ही वर्ग के हाथ मे रहा है। प्रेमचन्द की रचनाए एक विल्कुल नए वर्ग के नेतृत्व का आभास देती है। अत., यह भी सम्भव है कि जव कुछ शताब्दी वाद हिन्दी का इतिहास लिखा जाय तो हमारे साहित्य को दो ही भागो मे वाटा जाय—एक वह, जिसका प्रारम्भ सरह से होता है और दूसरा वह, जिसका प्रारम्भ प्रेमचन्द से होता है।

मै जानता हूं, कुछ लोग मेरे इस काल-विभाग पर नाक-भौं सिकोड़ेंगे। कुछ लोग कहेगे—प्रेमचन्दजी के वारे मे यह अतिशयोक्ति मैं उनकी मृत्यु-जनित भावुकता के कारण कर रहा हू। मै मानता हू, प्रेमचन्दजी के प्रति मेरी भक्ति भावुकता से खाली नही है। भावुकता को मैं ऐसी बुरी चीज नही मानता कि अपनेको उससे बचाऊ। मैं यह भी मानता हूं, उनकी मृत्यु ने मुझे वहुत ही मर्माहत किया। किन्तु यह निश्चय जानिए, मेरा उपर्युक्त कथन भावुक भक्त की आवेश-वाणी मात्र नहीं, उसमें तथ्य है। हा, इस तथ्य को जानने के लिए आपको साहित्य, कला, नीति, आदि को एक नई नजर से देखना-परखना होगा। पर, यह स्थान नहीं कि उस सवध में कुछ विस्तार से कह सकू।

संक्षेप मे यो समझिए। हमारे हिन्दी-साहित्य का जन्म उस समय हुआ जव भारत सामन्तशाही युग से गुजर रहा था। सयोगवश देशी साम्न्तशाही वहुत विखरी, ढीलीढाली थी। कुछ विदेशी कवीले इस पर टूटे। दोनो लड़े। विदेशियो की विजय हुई। किन्तु जहां उनकी तलवार जीती, वहां हारे हुए लोगो की तहजीव ने उनपर विजय प्राप्त की। तहजीव—सामतशाही तहजीव। कुछ दिनों तक लोगों में खूब घुटी। पर फिर कशमकश शुरू हुई। इतने मे एक तीसरी शक्ति कूद पडी। वह इन दोनो से मजवूत थी, क्योकि वह उनके युग से गुजरकर आगे के युग में पैर रख चुकी थी, यानी, यह तीसरी, सामन्तशाही के

वाद के वर्ग, पूंजीशाही, का प्रतिनिधित्व करती थी। पूंजीशाही जीती, सामंतशाही हारी। पूजीशाही के दौरदौरे शुरू हुए। उसने सामंतशाही की ठठरी कही-कही भले ही रख छोड़ी हो, किन्तु उसने उसका सत्त ज़रा भी नही छोड़ा। यही नहीं, इस पूजीशाही का पेट केवल इतने ही से नही भर सकता था, उसने प्रत्यक्ष शोषण शुरू किया, जिसका फल हुआ देश में ऐसे वर्गो का उदय, जो थे तो अनादिकाल से ही, किन्तु जिनकी ओर हमारा ध्यान ही नही गया था। पूजीशाही जिस प्रकार सामन्तशाही की ही पितृ-भक्त औलाद है, उसी तरह मजूर-किसान-वर्ग पूंजीशाही की पितृ-घाती सन्तान है।

अब अपने साहित्य को देखिए। वह आजतक सामन्तशाही को ही केन्द्र-विन्दु मानकर अपना क्रीड़ा-कौतुक दिखाता रहा। चाहे हम किसी दशरथ राजा के वेटे की गाथा गाएं या किसी शाहजी के पुत्र शिवाजी की, शिवसिंह हों या पृथ्वीराज, थे तो एक ही वर्ग के। जयपुर-नरेश हो या कोई अन्य नरेश-महेश, यदि कोई नही मिला तो स्वयं वेचारे श्रीकृष्ण तो हैं ही, उन्हीके सिर पर खेल लीजिए। पर इन सवके वीच एक ही वर्ग का सिलसिला है—स्थान, काल, पात्र से थोड़े विभेद के अनुसार। किन्तु उस युग का तो खात्मा हो गया। अव तो युग पूजीशाही का है। पूजीशाही का यश गाइए या उसकी विद्रोही सन्तान किसान-मजूर का। यदि आप प्रगतिशील हैं तो आप किसान-मजूर को ही अपना पात्र वनाएगे। प्रेमचन्दजी ने यही किया। यही उनकी कला की सवसे वडी खूवी है, जो उन्हे सदा के लिए अमर रखेगी। इस दृष्टि से देखिए, तभी आपको यथार्थ रूप में मालूम हो सकेगा कि प्रेमचन्दजी कितने महान्, कितने असाधारण थे। आप उन्हे साहित्यिक नवयुग का अग्रदूत मजे में कह सकते हैं।

और जव आप यह देखेंगे कि इस वर्ग के इस प्रथम कलाकार ने ही अपनी कला को कितना मोहक, आकर्षक और रंगीन वना पाया, तव तो आपको और भी ताज्जुव होगा। जिन्हे हम गूगा मूक समझते थे, उन्हे उसने जुवान दी, जिन्हे हम अन्धा-सूर समझते थे, उनकी आंखों को उसने नूर दिया। झोपड़ियो की कौन वात, खेत की मेड़ पर

वनी मडैयो तक को उसने वोलना, हँसना, प्यार करना, रोना, सिखलाया। हमारे विविधतापूर्ण समाज की इस निचली तह में भी विविधता की कमी नही, प्रेमचन्द की कला ने स्पष्ट कर दिया। उनकी कहानिया देखिए, पता चल जायगा। उनकी अन्तिम रचना 'गोदान' के एक-एक पात्र—स्त्री और पुरुष—इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गरीवो के भी दिल होते हैं, वे भी प्रेम करते हैं, प्रेम के लिए कुर्वानिया करते हैं, उनमें भी सहानुभूति और समवेदना होती है, जो धनिको की सहानुभूति और समवेदना की तरह उथली, केवल जुवान की नही होती। उनमें भी मान और सम्मान का खयाल होता है और उसपर आघात किया जाय तो जान लड़ा कर भी वे उसकी रक्षा करते हैं। हा, जिन्हे हम नर-कंकाल समझते हैं, उनमे भी जोश है, गरम खून है, प्रतिरोध की भावना है, लडने की ताकत है, वलिदान का माद्दा है, इत्यादि वातें आप प्रेमचन्दजी की कला मे भरी पडी पायगे।

प्रेमचन्द उस युग मे हुए, जव हमारा समाज, हमारा देश एक वडे सक्रान्ति काल से गुजर रहा था। वडी-छोटी शक्तिया आपस में टकरा रही थी, जिनकी टक्कर वायुमण्डल को वेतरह विक्षुब्ध किए हुए थी। कभी एक खास जगह में एक महाभारत हुआ था। आज तो ऐसे महाभारत, ससार को छोड़िए, हमारे देश के कोने-कोने में हो रहे हैं। इन महाभारतो के सजीव चित्रण के लिए हमें एक वेदव्यास चाहिए था। प्रेमचन्द हमारे इस युग के वेदव्यास थे। 'सेवा-सदन' से 'गोदान' तक पढ जाना, हमारे इस युग के इतिहास को पढ जाना है। वैसा इतिहास, जो तारीखो और व्यक्तियो पर निर्भर न करके, उस अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ है।

उस साधारण झुर्रीदार चेहरे के अन्दर, वेतरतीव मूछ और उभडी-सी भवो के वीच जो मामूली आंखें थी, वे कितनी सूक्ष्मदर्शी, पारदर्शी थी, इसका पता तव लगता है जव हम उनके पात्रो पर विचार करते हैं। राजकुमार से लेकर भिखमगो तक, खूंखार सरहदी से लेकर भोलेभाले किसान तक, खानावदोश जिप्सियो की शोख औरतों से लेकर शत-शत आखों पर नृत्यशील नर्तकियो तक—अजी, केवल मानवो

की क्या बात, घोडो, बैलो तक को उसने अपनी रचनाओ का पात्र बनाया, किन्तु उसका चरित्र-चित्रण कितना सच्चा, कितना स्वाभाविक, कितना सजीव हुआ है ! पूजीपति, जमीदार, किसान, मजदूर, हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, बूढ़ा, जवान, बच्चा, खोमचेवाला, कलन्दर, सपेरा, दानी-सूम, राजा-रक, गृहिणी-भिखमंगिन, ब्राह्मण-चमार, होली-ईद, अट्टालिका-झोपडी, जो जहां है, अपनी जगह पर है, अपनेपन के साथ है। कही भी अस्वाभाविकता, बनावट का नाम नही। यदि इस दृष्टि से देखिए, तो संसार के कलाकारो में वह अपनी एक खास जगह रखते हैं।

प्रेमचन्द को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल कलाकार का नही, एक योद्धा का जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। उनका बहुत-सा समय इस युद्ध में ही बीता। जब मै उन्हे दस बजे से पाच बजे तक प्रूफ देखते, या प्रेस की दूसरी झंझटो को सुलझाते देखता, फिर उनकी रचनाओ को देखता, तो मुझे आश्चर्य होता कि वह कब समय बचाते हैं जो इतना लिख पाते हैं ! उनका ऐसा बहुत कम समय बीता, जब एकमात्र साहित्य-निर्माण ही उनका पेशा रहा हो। कभी स्कूल-मास्टरी, कभी प्रेस-मैनेजरी, कभी सम्पादकी, कभी फिल्म-निर्माता, यो सदा किसी-न-किसी पेशे मे वह जुते रहे। तो भी, यदि उनकी कृतियों को आप परिमाण के खयाल से भी देखिए तो आश्चर्य होगा। मालूम होता है, उनके इस छोटे शरीर का जर्रा-जर्रा साक्षात प्रतिभा था। यों तो उनकी स्वतत्र, मौलिक रचनाएं भी आजकल के हमारे किसी साहित्यकार की कृतियो से, परिमाण के खयाल से भी, बाजी मार सकती हैं, फिर यदि हम उसमें उनके द्वारा अनूदित और संकलित ग्रन्थों को भी जोड दें तो वह अनायास ही बेजोड बन जाता है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासो और कहानियो के लिए मशहूर हैं। कुछ लोगो का कहना है कि उपन्यासो की अपेक्षा वह कहानी लिखने में ज्यादा सफल हुए। ऐसे ही कुछ लोग कहा करते हैं कि उनकी कुछ चीजे बहुत ही शिथिल और उनके नाम के अनुरूप नहीं। पहली बात का जवाब देना फिजूल है। यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई छोटी चीजें पसन्द करता है, किसीकी तृप्ति बड़ी चीजों से होती है। एक

बात और भी है। प्रेमचन्द के प्राय. सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं। हमारी समस्याओ को लेकर उन्हे उनके यथार्थ रूप में दिखाना, उन समस्याओ से उत्पन्न गुत्थिओ को अलग-अलग करके समझाना और फिर उन गुत्थियो के सुलझाव का अपना एक तरीका पेश करना प्रेमचन्द के प्राय. सभी उपन्यासो का यह मूल उद्देश्य है। दृष्टिकोण के भेद से समस्याओ के रूप, फल और सुलझाव के बारे में भिन्न-भिन्न रायें हो सकती हैं। उन रायो की विभिन्नता से उपन्यासकार की प्रतिपादन-प्रणाली पर हमें सहानुभूति या विरक्ति भी हो सकती है। फलत. उन उपन्यासो के बारे मे रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। किन्तु उपन्यासकार की सफलता उसकी कृतियो के विषय पर निर्भर नही माननी चाहिए। उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है चरित्र-चित्रण। 'सुमन' (सेवासदन), 'सूरदास' (रगभूमि) या 'होरी' (गोदान) की जिन्दगी की फिलासफी पर मत जाइए, देखिए, जहां जिस रूप मे इनके कार्य हुए हैं, उनमें अस्वाभाविकता तो नही है। और, इसमे भी एक बात तो खयाल में रखिए ही कि प्रेमचन्द 'कला कला के लिए' वाले बेसिर-पैर के जीव नही थे, वे आदर्शवादी लेखक थे, अत· साधारण कमजोरियो से अपने पात्रो को ऊपर उठाए रखना उनका कर्तव्य था।

अब दूसरी बात पर आइए। उनकी कुछ रचनाएं मामूली हैं। मैं भी इस बात को मानता हूं। कभी-कभी मुझे भी इस बात पर झिझक हुई है। किन्तु इसमें एक बात याद रखनी है कि प्रेमचन्दजी को किस परिस्थिति में रहकर ये रचनाए रचनी पडी। एक तरफ जीवन-युद्ध की वह झकझोर, दूसरी ओर आवश्यकताओ की चाबुकबाजी और तीसरी तरफ मानो जले पर नमक, हम और आप जैसे वे लोग जो अपनी पत्र-पत्रिकाओ के नाम और गरिमा को ऊपर उठाए रखने के लिए, मुफ्त लिखने को, तकाजे के मारे उनका नाको दम किए रहते !

प्रेमचन्द की कला, जैसा कि पहले कह चुका हूं, हमारे साहित्य के उस क्षेत्र में प्रवेश करने की सूचना है, जो अबतक अछूना रहा। यदि हम पारिभापिक शब्दो की शरण लें तो प्रमचन्द हिन्दी के प्रथम जन-साहित्य-निर्माता थे। हमारा साहित्य आज तक जमातो का चरण-चुम्मन

करता रहा, अब वह जनता को अपना जीवन-संगी बनाने जा रहा है। प्रेमचन्द हमारे साहित्य के इस महान् विच्छेद के स्तूप थे। इस बात ने जहा उन्हे साहित्यिक विकास के इतिहास में एक अनुपम स्थान दे रखा है, वहां इसके चलते उनकी रचनाओ में एक गडबडझाला भी है, जिसे हम लोग, जो उनके साहित्यिक वंशधर हैं, न भूलें। स्वभावतः और मुख्यतः प्रेमचन्दजी जन-साहित्य के निर्माता थे, किन्तु उनकी रचनाओं में हम सामन्तशाही युग की कुछ अस्फुट झलक भी पाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी जनता मे अवतक की चेतना उतनी प्रस्फुटित नही हुई है और न हम जनसेवियो का आदर्शवाद ही उतना निखर पाया है कि इसके पूर्व युग के अवशिष्टांश की कोई छाया हम पर न पडे। अतः हमारी रचनाओ में कुछ ऐसा गडबडझाला होना कोई गैरमामूली बात नही। मैंने स्वय प्रेमचन्दजी से इसकी चर्चा की थी। उन्होने अपनी नई रचना 'गोदान' तक प्रतीक्षा करने का मुझे आदेश दिया था। 'गोदान' निस्सन्देह इस दृष्टि से उनकी पूर्व रचनाओ पर तरजीह पाने योग्य है, किन्तु वहा भी वह 'निखार' नही। जो लोग जन-साहित्य के निर्माण मे प्रेमचन्दजी के पद-चिन्हो पर चलनेवाले हैं, उन्हे चाहिए कि अपने उस महान नेता के अधूरे काम को उसके अनिवार्य परिणाम तक पहुंचाए।

यहा एक बात की और चर्चा कर देना जरूरी है। वह है भापा के बारे मे। प्रेमचन्द ने हमें केवल जनता का साहित्य ही नही दिया, वरन् वह साहित्य कैसी भापा में लिखा जाना चाहिए, उसका भी पथ-निर्देश किया। जनता द्वारा बोले जानेवाले कितने ही शब्दो को, उनकी कुटिया-मडैया से घसीटकर वह सरस्वती-मदिर मे लाए और इसी प्रकार कितने ही अनधिकारी शब्दो को, जो केवल बड़प्पन का बोझ लिये हमारे सिर पर सवार थे, इस मदिर से निकाल बाहर किया। हमें इस पथ पर भी आगे बढना है।

इसलिए कहता हूं—प्रेमचन्द अमर हो, अमर हो उनकी भावना, अमर हो उनकी भापा!

: ३ :

बरनार्ड शॉ : उन्हींके शब्दों में

"सभी आत्मकथाएं झूठी हैं।"—जिस व्यक्ति ने यह घोषणा बार-बार की, कितने आश्चर्य की बात है, उसीको, विरोधियो द्वारा उत्तेजित किए जाने पर, या मित्रो द्वारा बार-बार आग्रह किए जाने पर, अपने बारे मे इतना कह जाना पड़ा कि यदि उन सबको एकत्र कर दिया जाय, तो एक उच्च श्रेणी की आत्मकथा बन जाय! हाल मे 'सोलह आत्मचित्र' के नाम से उसने एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई और फिर बतलाया कि उसने अपनी आत्मकथा क्यो नही लिखी।—"मैंने न किसीकी हत्या की, न कोई अघट घटना मेरे जीवन में घटी! फिर आत्मकथा मे लिखा क्या जाय? और आत्मकथा को पठनीय होने के लिए कलात्मक तो होना ही चाहिए।" वह मानता है कि सर्वोत्तम आत्मकथा वही है जिसमें आत्म-निवेदन हो, अपने पापो की स्वीकृति हो। किन्तु क्या यह सबके लिए सम्भव है? कोई रूसो, कोई गाधी ही ऐसा कर सकता है। साधारण-तया आत्म-निवेदन के नाम पर लोग अपने पापो पर पर्दा ही डालते हैं। अतः कोई सिलसिलेवार आत्मकथा लिखने से उसने अपनेको सदा बचाया। 'आत्मचित्र' में उसने उन बातो पर ही प्रकाश डाला "जो या तो छोड दी गई थी या जिनके बारे मे गलतफहमिया पैदा हो गई थी।"

शॉ यह भी समझता था कि कलाकार आत्मगोपन भी नहीं कर सकता। मानव और प्रकृति के गहन रहस्यो का उद्घाटन ही जिसका पेशा है, वह अपने बारे में चुप रहे? असम्भव! वह अपनेको प्रकट करता है, प्रतिदिन, प्रतिक्षण प्रकट करता है, किन्तु आत्मकथा के रूप मे नही, अपनी कृतियो के रूप मे। "मेरे सम्बन्ध मे जो चीजें देने लायक हैं, उन्हे या तो मैंने पुस्तकों की अलमारियो मे धर दिया है या रंगमचो पर! जो सुनाने लायक थी, सुनाई जा चुकी हैं।" वह ठीक ही पूछता है कि शेक्सपियर से उसका 'हैमलेट' छीन लो और उसके बदले उसके

जन्म की घडी से मृत्युपर्यन्त की एक रगीन तस्वीर वना लो, तो क्या यह पिछला शेक्सपियर पहले शेक्सपियर से ज्यादा आकर्षक और दिलचस्प होगा ?

किन्तु एक विशाल वट-वृक्ष की हरी-हरी पत्तियो, लम्बी-लम्बी जटाओ और मोटी-मोटी डालो को ही देखकर मानव का मन तृप्त नही हो जाता। उसमें उत्कंठा जगती है उसकी जडे देखने को—जो इन सवकी आधार हैं। कुदाल चलाना कठिन काम है, वृक्ष को क्षमा मिल जाती है। किन्तु महापुरुष—वह वेचारा ! प्रश्नो की वौछार, फिर झूठी-सही अटकलवाजियां ! चुप वह रहे तो कैसे ? उसे वोलना पडता है, रहस्य खोलना पडता है। इससे भी लोगो ने इसी प्रकार रहस्य खुलवाए। और, यह साहित्य के लिए अच्छा ही हुआ। इस युग का जो सवसे महान् साहित्यिक था, उसके वारे मे हम इतना अधिक जान सके।

ये सामग्रियां जहां-तहा विखरी पडी हैं। उन्हींमें से कुछको चुनकर, सजाकर ये गुलदस्ते वने हैं। देखिए तो—वरनार्ड शॉ को शॉ के ही शब्दों में।

पालने में

मेरे पहले जीवनी-लेखक मेरे पिता थे, श्री जार्जकार शॉ। साझे में गल्ले का व्यापार करते। सफल व्यापारी न थे, क्योकि मुल्की हाकिम थे, पेंशन वेचकर यह व्यापार शुरू किया। अधेड़ होने पर शादी की—तीन वच्चे हुए। आखिरी वच्चा मैं—जार्ज वरनार्ड !

१८५७ की जुलाई मे मेरी मां अपने मैके गई। मैं एक वर्ष का था—वौव कहलाता था ! पिताने मा को पत्रो मे मेरे वारे मे लिखा था—

"१७ जुलाई १८५७ : वेचारे के पेट मे रात जोरो का दर्द शुरु हुआ, किन्तु भोर मे वही चपलता, हँसी-खुशी। किशमिश कुछ ज्यादा खा ली थी।

"२० जुलाई : शैतान दिन-दिन वदमाश होता जा रहा है। भोर मे सांड़ की तरह डंकराता और हांफता है। ऐसा लगता है, तुम लौटोगी तो

यह दौड़कर गली की मोड पर ही तुमसे जा मिलेगा।

"२४ जुलाई : वौव ने कल अपने टोप को टुकड़े-टुकडे कर दिया।

"२७ जुलाई · वौव के लिए नया टोप खरीद दिया गया, १०) लगे। उसका जन्मदिन है न! कुछ ज्यादा खर्च हुए तो क्या! कल वौव अपनी वहन के साथ विछावन से गिर गया—सिर के वल, किन्तु चोट नही आई।

"रविवार की भोर : वौव कुछ देर मेरे साथ विछावन पर रहा, फिर उसने जलपान किया। एक पछाड आज भी खाई, किन्तु थोड़ी देर चिल्लाने के वाद फिर हँस रहा है।

"३० जुलाई : वौव की शैतानी वढती जा रही है।

"३ अगस्त : वडी निराशा होगी, यदि वौव तुम्हारी चिट्ठी हाथमे लिये मेरे निकट न आ पहुँचे और उससे चिट्ठी लेने में छीना-झपटी न करनी पड़े। इस छोटे-से शैतान ने आज अखवार फाड दिए।

"७ अगस्त : धाई कह रही थी, वौव ने दौड़-दौडकर उसे थका दिया। वह विना सहायता के भी दौड़ा-दौड़ा फिरता है।

"११ अगस्त : मगलवार को वेचारा वौव वाल-वाल वचा। वह रसोईघर की टेवल पर वैठा था, धाई भी वहा थी। वह वेचारी फर्श पर से कुछ चीज उठाने गई कि वह धडाम से सिर के वल गिर पडा। उसका सिर शीशे के छेद से होकर लोहे की छड से जा टकराया, किन्तु आश्चर्य कि जरा खरोच भी नही लगी!

"१५ अगस्त . वौव के दात जम रहे हैं। वहुत परेशान है—रात-दिन वेचैन।"

लालन-पालन

मेरे साथ वुरा व्यवहार कभी नही किया गया, क्योंकि मेरे मा-वाप में निष्ठुरता का लेश भी न था, लेकिन यह भी सही है कि मेरी चिंता उन्हें नही थी। इसका फल यह हुआ कि मुझमे प्रारम्भ से ही एक भयानक ढग की आत्म-निर्भरता आई और मुझको सपनो के भोज मे भूखा रहने की आदत पड़ गई। सम्भव है, इससे मेरे विकास मे वाधा

पडी हो और आज भी जो मुझमें विशुद्ध प्यार का अभाव है, इसका कारण यही हो।

रसोईघर मे ही मैं खाना खाता। उवाला हुआ मास मुझे जरा भी पसन्द नही था। अधपके आलू और खूव चाय। चीनी मैं चुरा लेता। मैं भूखा कभी नही रहा। मेरे पिता को अपने वचपन की असह्य भूख की याद थी, इसीलिए वह रोटी और मक्खन प्रचुर मात्रा मे मेरी पहुच की परिधि मे रखवा देते।

नौकरो से मुझे घृणा थी और अपनी मा को मैं वहुत चाहता था। एकाध वार जव यह नायाव मौका आया, उन्होने जो रोटिया मुझे दी उनपर मक्खन की मोटी तह थी। मुझसे वह विलकुल तटस्थ रहती, इसलिए मैं उन्हे देवी समझता और उनके विगाडनेवाले संसर्गो से वचा रहा। जव एकाध बार वह अपने साथ टहलने को ले गई, मैंने अपना सौभाग्य समझा।

एक नौकरानी मुझे टहलाने को ले जाती। समझा तो यह जाता कि वह मुझे नहर-किनारे ले जाती है, या पुरुषो के मुहल्ले में, किन्तु वह ले जाती गरीवो की वस्तियो में, जहा उसके दोस्त रहते।...मेरे मन मे गरीवी से घृणा यही से शुरू होती है। गरीवी दूर करने के लिए मैंने जो जीवन न्यौछावर किया, इसके मूल मे यही है।

एक रात मेरे पिता मुझे टहलाने ले गए। उस समय मैं उनके घुटने के वरावर था। टहलते समय मेरे मन में एक विषाक्त शंका उत्पन्न हुई। मैं घर आया। माता से चुपके-चुपके कहा, "मां, पिताजी ने शायद शराव पी ली है।" "वह कव नही पीते।"—मा ने कहा।

वह चुराकर पीते थे। पीते समय भी लज्जा और ग्लानि अनुभव करते, तो भी पीते और जरा भी विरोध किया जाता तो गुस्से में चीजों को पटक देते, तोड देते। ऐसे आदमी पर रोया जाय, या हँसा जाय? हम लोग हँसी मे ही उड़ा देते।

मेरी मा न कभी झगड़ा करती, न शिकायत करती, न वदला चुकाती, न भूलती। तुमने गलती की, तुम अपने रास्ते, मैं अपने रास्ते—मेरी मा की यही मनोवृत्ति थी। वच्चो से उसे घृणा नही रही। वह न

किसीसे घृणा करती, न प्यार। वह यह भी नही जानती थी कि बच्चे क्या खाते हैं, कैसे रखे जाते हैं। यह सब नौकर पर छोड़ दिया गया था।

कुछ लोग प्यार दिखाते हुए मेरे सिर को थपथपाते या मुझसे बच्चो की तरह बातें करते। मुझे व्यक्तिगत स्वतत्रता पर यह आघात मालूम होता और इस बनावटीपन पर गुस्सा आता। मुझे याद है कि मैं किस तरह ऐसी हरकतो के खिलाफ हो उठता!

जब मै छोटा बच्चा था, रविवार को गिरजाघर में ले जाया जाता और चुपचाप बैठे रहने की अमानुषिक और मूर्खताभरी प्रथा का शिकार बनाया जाता था। बढिया-से-बढिया कपडा पहनकर उस अंधेरे, गंदी हवा से भरे घर में मूर्ति की तरह बैठे रहो, जब बाहर इतनी सुन्दर भोर हो...ऐसा बच्चा यह निर्णय कर ले कि बडा होने पर मै इस घर मे झाकूगा नही, तो आश्चर्य क्या?

स्कूल की कैद में

मुझे कोई ऐसा समय याद नही, जब कोई छपा हुआ पृष्ठ मेरी समझ में न आया हो। मेरा विश्वास है, मै पढे-लिखे के रूप में ही पैदा हुआ था!

मेरी शिक्षिका मुझे और मेरी बहनो को कविताए गाना सिखाती, हम लोग हँस देते! वह मुझे अपनी उन अगुलियो से मारती, जिनसे एक मक्खी भी नही मारी जा सकती! साथ ही यह भी बताती कि ऐसे मौको पर मुझे रोना चाहिए और लज्जा अनुभव करनी चाहिए।

उसने मुझे जोड, घटाव और गुणा तो सिखलाया, किन्तु भाग नही सिखा सकी। भाग मैंने स्कूल में सीखा और सच बात है कि एक यही चीज़ मैने स्कूल में सीखी!

जब मै स्कूल में भर्ती हुआ, मेरे जितना लैटिन व्याकरण कोई लडका नही जानता था, लेकिन जब स्कूल छोड़ा, तबतक वह भी भूल चुका था!

स्कूल के लिए मै घर पर कोई तैयारी न करता, इतना मै आलसी

था और बहाना बनाने के लिए झूठ बोलने में मुझे जरा भी शर्म नही आती थी !

मुझमे प्रतियोगिता की भावना ही नही थी। न मैं इनाम चाहता, न नाम। इसलिए परीक्षा मे मेरी कोई दिलचस्पी नही थी। अगर मैं जीतता तो अपने साथियो का दुःख मुझे खलता और हारता तो मेरे आत्म-सम्मान को चोट लगती !

मैं स्कूल में कुछ नही सीख सका—यह अच्छा ही हुआ, क्योकि मैं मानता हूं कि दिमाग पर कोई अप्राकृतिक प्रक्रिया उतनी ही बुरी है, जितनी देह पर। जिस विषय के सीखने की प्रवृत्ति नही हो उसे सिखाना उतना ही बुरा है जितना आदमी को भूसा खिलाना !

मुझे दुख है कि मैं भाषाए नही सीख पाया। मैंने कोशिश की और पाया कि साधारण आदमी संस्कृत उससे कम समय में सीख ले सकता है, जितनी देर में मैं कोई जर्मन-कोष खरीदूं।

मैं उन सबको अभिशाप दूगा जो मेरी पुस्तको को स्कूल के लिए पाठ्य पुस्तकें बनाएगे और शेक्सपीयर की ही तरह मुझे बच्चों के लिए घृणा और डर की चीज़ बना देगे। बच्चो को सताने के लिए मैंने नाटक नही लिखे !

स्कूल में गणित का महत्व हमे नही सिखाया जाता। बीजगणित के 'अ' 'ब' को मै अंडा और बटेर समझता और 'स' को शून्य !

चार अको का कोई हिसाब मुझे दीजिए और दीजिए स्लेट और आधा घटे का समय और ले लीजिए मुझसे गलत जवाब !

चौदह साल की उम्र तक मै इसका सही जवाब नही दे सकता था कि जब डेढ़ पैसे में तीन पोठिये मिलती हैं तो ग्यारह पैसे में कितनी पोठिये मिल सकेंगी।

रेखागणित मुझे कष्ट नही देता।...लेकिन परीक्षा में समस्याएं न पूछकर उन्हे पुस्तको की संख्याओ में पूछ दिया गया, मैं बेतरह फेल हुआ !

बस, साहित्य में ही मेरी प्रतिभा का कुछ परिचय स्कूल मे मिला—लेख लिखने मे मुझे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी; लेकिन उसकी भी कोई

कीमत नही थी, क्योंकि साहित्य की योग्यता के मानी थे लैटिन भाषा की जानकारी।

इतिहास में आयरलैंड की उपेक्षा की जाती, इगलैंड को महत्व दिया जाता। मैं ठीक इससे उल्टा जवाब देता। लडके आश्चर्य करते, शिक्षक मुस्कराकर रह जाते!

स्कूल को मैं जेल कहता हू—वह जेल से भी बुरा है। जेल मे वार्डर या जेलर की लिखी हुई पुस्तकें तो नही पढाई जाती और उनके याद न करने पर कोडे तो नही लगाए जाते! जेल में जबर्दस्ती बैठाकर उन बेवकूफो की बातें तो नही सुनने को मजबूर किया जाता, जो उन बातों को स्वयं न समझते हैं, न समझने की कोशिश करते हैं, फलत. जिनमे समझाने की न योग्यता होती है, न इच्छा! जेल मे सिर्फ देह पर अत्याचार किया जाता है, दिमाग पर नही, साथ ही बदमाश कैदियो से रक्षा भी की जाती है। स्कूल मे ऐसी कोई सुविधा नही।

१८७१ में, जब मैं १५ वर्ष का था, इस स्कूल-जेल से मुझे मुक्ति मिली!

घेरे से बाहर

जब मैं दस वर्ष का भी नहीं हुआ था, मैं शेक्सपियर और बाइबिल से ओत-प्रोत था।

बच्चो के लिए लिखी पुस्तको से मुझे घृणा थी।

मेरा मस्तिष्क नए विचारो के लिए छटपटाता रहता।

जिस घरमे प्रेम नहीं, घृणा नही, डर नही, श्रद्धा नही, था तो सिर्फ व्यक्तित्व, हम बच्चोंको उससे बाहर अपने लिए कोई रास्ता निकालना ही था।

मुझे याद है, एक बार एक पडोसी के बगीचे से मैंने चार दर्जन सेब चुराए, किन्तु डेढ दर्जन खाने के बाद ही मैंने अनुभव किया कि उन्हें पेट में उतारने के बदले मुर्गियों पर फेंकना कही अधिक आनन्ददायक है!

जब मैं छोटा बच्चा था, उपन्यासो के पढने से मेरी कल्पना इतनी तीव्र हो गई थी कि अपनेसे छोटे एक बच्चे पर यो रोब जमाता, मानो मैं कोई बहुत बड़ा नायक हूं।

जब मैं छोटा-सा बच्चा ही था, प्रसिद्ध संगीतज्ञ मोजार्ट के गाने अच्छी तरह सीख गया था, अपनी शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण मैं इसी को समझता हूँ।

मेरी समझ मे होरास के पद्यों को कण्ठस्थ करने के बदले बिथोविन का सगीत गुनगुनाना शिक्षा की दृष्टि से कही अधिक महत्वपूर्ण है !

यदा-कदा मैं आयरलैंड की राष्ट्रीय चित्रशाला में जाता। वही बड़े-बड़े चित्रकारों से मेरा परिचय हुआ।

मुझे पता चला कि माइकेल ऐंजेलो और टीशियन की तरह में चित्र नही बना सकता, जबतक कि इस कला का विधिवत् अध्ययन न करलू !

किलनी पहाड़ी पर मैं दृश्यो को देखकर नही अघाता, जिन्हें प्रकृति ने जैसे मेरे लिए ही चित्रित किया हो।

ऐसा सुन्दर आकाश—मैं सदा ऊपर ही देखता रहता !

हरिनो को पालने के लिए तो जंगल रखाए जाते हैं, किन्तु बच्चो के लए बगीचे भी नही। शायद इसीलिए कि हरिनो का शिकार किया जाता है। लेकिन कौन कहता है कि आप बच्चों का शिकार नही करते—हा, उन्हे गोली से नही मारते और न उनपर शिकारी कुत्ते छोड़ते हैं ! यही आपकी मेहरबानी है !

जब मै बारह वर्ष का था तो साथियो के साथ एक पहाड़ी पर गया। हमने सोचा, इसपर आग लगाना कितना मजेदार होगा। एक लडके ने विरोध किया, वह नीचे उतर आया। वह पकड़ लिया गया, क्योकि पुलिस ने देखा कि ऊपर आग धू-धू जल रही है ! निरपराध ही फसाए जाते हैं।

एक दिन जब मैं सन्ध्या को चहल-कदमी कर रहा था, मेरे मन में अचानक यह बात उठी कि मुझे जब विश्वास नही तो फिर रात मे सोने के पहले प्रार्थना क्यो किया करता हूं। उस रात प्रार्थना नही की। दूसरे दिन मन में प्रश्न उठा—प्रार्थना नही करने पर मैं कल बेचैन क्यो हो उठा ? और दूसरी रात के बाद तो मैं भगवान् को इस तरह भूल चुका था, जैसे मैं जन्म-जात नास्तिक होऊं।

अब भगवान् नही रह गया था, तो मेरी आत्मा जगी—मैं सोचने

लगा कि मर्यादा और नैतिकता बडे-बूढो की ही चीजे नही हैं। बचपन की शैतानी, स्वार्थ, कल्पना, मूढधारणा आदि के स्थान पर हृदय मे एक ज्योति-सी जग गई—जैसे मेरा नया जन्म हुआ।

संघर्ष के वे दिन !

जीविका के रूप मे मैंने साहित्य को इस वास्ते अपनाया कि लेखक को पाठक देखते नही, इसलिए उसके लिए भलेमानस की पोशाक की जरूरत नही। व्यापारी, डाक्टर या फाटकेबाज बनने के लिए मुझे साफ-सुथरे कपडे पहनने पडते और अपने घुटनो एव कुहनियो से काम लेना छोड देना पडता। साहित्य ही एक ऐसा सभ्य पेशा है, जिसकी अपनी कोई पोशाक नही—इसलिए मैंने इसी पेशे को चुना।

फटे जूते, छेदवाला पाजामा, समय के थपेडो के कारण काले से हरा बन गया लम्बा कोट, कैंची से काटकर सर किया गया कालर, और पुराना टोप, जिसे मैं उलटकर इसलिए पहनता कि कही उतारने के समय वह एक से दो न हो जाय।

"छ पैसे में कैसे रहा जा सकता है"—इस नाम की पुस्तक मैंने एक बार खरीदी थी। दोपहर तक उसके नियमो पर मैंने ईमानदारी से चलने की कोशिश की और जब कभी मेरी प्रामाणिक जीवनी लिखी जायगी, मै उसमे इस घटना के उल्लेख पर जोर दूगा, क्योंकि इससे मेरी संतोप और त्याग की वृत्ति प्रकट होती है!

मुझे एक सध्या की याद आरही है, जब मैं उपन्यास लिखा करता था और उससे एक पैसा भी पाना सौभाग्य समझता था। मैं स्लोन की सड़क पर साहित्यिको की उस अटपटी पोशाक—सध्या की पोशाक—में आ रहा था। एक आदमी मेरे निकट आया और बार-बार मुझसे सहायता मागने लगा कि उसके पास एक पैसा भी नही है। "मेरे पास भी एक पैसा नही है"—मैंने पूरी सच्चाई से उससे कहा और वह बडी सभ्यता से धन्यवाद देकर चला गया। जब वह चला गया, मैं बार-बार सोचता रहा कि मैं भी भीख क्यो नही मागता, क्योकि भीख मागनेवाले की स्थिति मझसे बुरी नही हो सकती।

दूसरी घटना। उसी पोशाक में एक वार आधी रात के बाद मैं पिकाडेली से वौड की सड़क की ओर लौट रहा था। उस समय एक स्त्री मेरे निकट आई और विनय की कि ब्रोम्पटन जानेवाली आखिरी वस भी छूट चुकी है, इसलिए यदि कोई उसे अपने साथ ले चले, तो वह वड़ी कृतज्ञ होगी। मुझमे आयरलैंड की वहादुरी तो थी ही, फिर अपनी अवस्था और स्थिति के साम्य पर भी दृष्टि थी, इसलिए मैंने वडी नम्रता से वहाना किया कि मेरी पत्नी (कल्पना की पत्नी ?) घर पर मेरी घोर प्रतीक्षा कर रही होगी और आपकी जैसी खूवसूरत देवी को रात भर की साथी वनाने के लिए कोई-न-कोई सज्जन मिल ही जायगे। यह कहना था कि उसने मेरी वाँह पकड़ली, मुझसे चिपक गई और मेरे साथ नरक तक जाने को तैयार वताने लगी! "मुझसे चिपककर आप दूसरा मौका भी खो रही हैं, मुझे छोड़िए"—लेकिन क्या वह मुझे छोड़ने वाली थी ? अन्त में मैं सड़क की मोड़ पर खड़ा हो गया, जेव से अपना वटुआ निकाला और उसे उलटकर दिखा दिया! मेरा यह दिवालियापन देख वेचारी लड़की का चेहरा उतर गया। घांघरे के करुण मर्मर मे वह वेचारी जल्दी से लौटकर मेरी आँखो से ओझल हो गई।

लंदन किसी शर्त पर मुझे वर्दाश्त करने को तैयार न था। वस, मेरा एक लेख स्वीकृत हुआ और पन्द्रह शिलिंग मिले। एक प्रकाशक ने कुछ पुराने व्लाक खरीदे थे। उसने चाहा कि उन व्लाको से स्कूलो में इनाम देने के लिए पुस्तकें तैयार कराई जायं। मुझे व्लाको के नीचे के लिए कविताए लिख देने को कहा। कविता क्या लिखता—विनोद में ही व्यंग-कविताएं लिखकर उसके पास भेज दी। लेकिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जव मैंने देखा कि इन कविताओ के लिए उसने धन्यवाद के साथ पाँच शिलिंग दिए। मुझे दया आई। मैंने एक अच्छी गंभीर कविता लिखकर भेज दी, लेकिन इसे उसने दिल्लगी समझा और उसी दिन से मैंने कविता लिखना छोड दिया!

प्रारम्भ के नौ वर्षों में सिर्फ छ. पौंड अपने लिखने की कमाई से मैं प्राप्त कर सका।

मैं और मेरे विचार

तुम पूछते हो कि मै तुम्हे अपने माता-पिता के विषय में बताऊँ और यह भी कि उनका मेरे जीवन पर क्या प्रभाव पडा ?

अपने जीवन के विस्तृत विवेचन के लिए मुझे कम-से-कम बीस मोटे-मोटे ग्रथ लिखने पड़ जायगे। इससे कम में कुछ भी कहना असम्भव है। मै अपने पिता की एक कहानी तुम्हे बताऊ ? मै बच्चा था जब उन्होने मुझे समुद्र में पहली बार डुबकी लगवाई। इसकी भूमिका में उन्होने तैराकी के महत्व पर एक सारगर्भित भाषण दिया और अन्त में कहा—"जब मैं सिर्फ चौदह साल का था, मैंने तैराकी के ज्ञान के कारण ही तुम्हारे चाचा की जान बचाई थी।" और जब उन्होने देखा कि उनकी बातो का मुझपर गहरा प्रभाव पडा है, उन्होंने कुछ झुक कर धीरे-से कहा—"लेकिन जितना दुख मुझे इस काम के करते हुआ, उतना और किसीसे नही।" इतना कहकर पिताजी गहरे पानी में कूद पडे, खूब तैरे और लौटती बार रास्ते भर उनकी चुहल चलती रही।

मैंने अपनी रचनाओ में चरमबिन्दु लाने की जान-बूझकर कभी कोशिश नही की, यह अनायास आ जाया करता है। पर इसमें कोई सन्देह नही कि मेरे पिता के मज़ाको और मेरे हास्य-प्रधान नाटको मे, हल्का ही सही, पर एक सम्बन्ध अवश्य है।

तुम पूछते हो, मैंने पहली बार लिखने की प्रवृति का अनुभव कब किया ?

लिखने का प्रयास मैंने कभी नही किया, उसी तरह जिस तरह सास लेने का प्रयास कभी नही करता हू, और न कभी यही अनुभव किया कि मुझ मे असाधारण साहित्यिक प्रवृति है। यदि किसीमें सहज एवं स्वाभाविक साहित्यिक प्रवृति हो तो इसमे आश्चर्य की क्या बात ! कला के विशेषज्ञो, संग्रह-कर्ताओ और उत्साही लेखको मे ही सृजन-शक्ति की कमी रहती है। मछली उडना चाहती है, पछी तैरना—जिसमें जिस वस्तु का अभाव रहता है, वह उसी वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। मैंने कभी लिखने की चेष्टा की ही नही। यह सत्य है कि मैं अब उस साहित्यिक प्रवृति का अभाव अपने में पाता हूँ, फिर भी मैं

उसकी पूर्ति के लिए लालायित नही हूं। किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे प्राप्त किए रहना—दोनों वातें कैसे हो सकती है ?

तुम पूछते हो, मेरी पहली कलाकृति का क्या रूप था ?

एक धुँधली-सी याद है। जब मैं वच्चा था, मैंने एक कहानी लिखी थी और उसे किसी वच्चो के अखवार मे भेजा था। कहानी का नायक एक वन्दूक-धारी था, जिसने तलहटी की झाडियो मे किसीपर आक्रमण किया था। वन्दूक ही मेरी दिलचस्पी का केन्द्र था।

वास्तव में मेरी प्राथमिक कृतिया वे पाँचो उपन्यास हैं, जिनको १८७९–८३ के वीच मैंने लिखा और दुर्भाग्य से जो अप्रकाशित ही रहे। फिर मैंने एक वासनात्मक नाटक लिखना शुरू किया, जिसमे नायक की मा को मैंने एक कलह-प्रिय स्त्री के रूप में चित्रित करने का विचार किया, पर उसे लिख ही नही सका। न जाने क्यों, किसी चीज से खिलवाड़ करने में मै वार-वार असफल रहा हूँ। 'कला कला के लिए' के उद्देश्य से किए गए मेरे सभी प्रयत्न विफल रहे। ऐसा लगता था, मानो मैं कागज पर काँटी रखकर उसे हथौडे से ठोक रहा होऊँ।"

× × ×

इसके वाद ही शॉ की सफलता की जिन्दगी शुरू होती है। प्रतिभा ने, परिश्रम ने, लगन ने उसे संसार के महानतम लेखकों की पंक्ति मे विठलाया। उसका एक अपना रग, अपना ढंग! उसकी एक अपनी भापा अपनी शैली! उसे यश मिला, उसे धन मिला। किन्तु उसने इनके मोह से सदा अपनेको अलिप्त ही रखा। सादा जीवन, उच्च विचार। न माम छुआ, न मदिरा छुई! व्यंग्यवाण चलाने में उसने किसीको अछूता न छोडा! कट्टरपंथी अग्रेज जाति को वह वार-वार झकझोरता रहा, उनकी एक-एक धारणा की खिल्लिया उड़ाता रहा। किन्तु वाह री कलम की जादूगरी! जादू वह जो सिर पर चढ कर वोले! वे सुनते रहे, हँसते रहे, उसपर मरते रहे! और क्या यह सच नही कि अँग्रेजी भापा को उसने उस चोटी पर चढ़ा दिया, जिसतक पहुँचने के लिए कोई भी भापा लालायित हो सकती है ?

: ४ :

हमारे राष्ट्रपति

१९२१ का तूफानी जमाना ! बहुत-से लडकों के साथ मैंने भी स्कूल छोड दिया था । असहयोग के बाने के रूप मे मोटी खुरदरी खादी का कुर्ता शरीर पर और उसीकी बनी बेडौल गाधी-टोपी सिर पर डाले हम गाँव-गाँव की खाक छानते फिर रहे थे । कैसा उत्साह था, कितनी उमग थी ! हवा मे देशभक्ति की बिजली दौड रही थी । जर्रे-जर्रे मे जैसे विप्लव के स्फुलिग निकल रहे थे । कैसा दिन, कैसी रात ! क्या खाना, क्या सोना ! लगता था, बूढे भारत मे नई जवानी आ गई है ! फिर, हम जो मुंछउठान नौजवान थे, उनकी मनस्थिति की कल्पना कीजिए ।

देहात में ही था कि खबर मिली, गाधीजी पटना आ रहे हैं । गाधीजी आ रहे हैं, यही बात हमे पटना खीच ले चलने को काफी थी । उसपर यह भी खबर थी कि वह पटना में एक विद्यापीठ का उद्घाटन करने आ रहे हैं, जिसमें हम असहयोगी विद्यार्थियो के पढने का प्रबध किया जायगा । सबसे बडी खबर यह थी कि उस विद्यापीठ के आचार्य होगे राजेन्द्रबाबू !

राजेन्द्रबाबू को बिहार का कौन विद्यार्थी नही जानता था ? उस समय के विशाल कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो मे सर्वप्रथम आकर उन्होने बिहार के विद्यार्थियो की प्रतिभा की धाक जमाई थी । 'बिहारी-छात्र-सम्मेलन' की स्थापना कर बिहार के विद्यार्थियो का जैसा संगठन किया था, वैसा आजतक नही किया जा सका । आज के सारे छात्र-सगठन तो ध्वसात्मक हो गए हैं, वह सगठन पूर्णत रचनात्मक था । हर जिले मे उसकी शाखा थी । हर शाखा सालभर कुछ-न-कुछ रचनात्मक काम किया करती थी । उसके सरक्षण में गांवो मे निरक्षरता दूर करने के प्रयत्न से लेकर छात्रो के बीच व्याख्यान, व्यायाम, सगीत,

अभिनय आदि की प्रतियोगिताऐं चलती रहती थी। लेख और कविता की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए हस्तलिखित पत्रिकाओं का सचालन होता था, विभिन्न विपयो पर निवन्व लिखाए जाते थे और अच्छे निवंधों पर पुरस्कार और पदक प्रदान किए जाते थे। छात्र-सम्मेलन के अधिवेशन धूमधाम से किए जाते थे—देश के वड़े-से-वड़े नेता वुलाए जाते थे। इस संस्था ने राजेन्द्रवावू को विहार के विद्यार्थियो मे वड़ा ही जनप्रिय वना रखा था। फिर, चम्पारन के किसान-संघर्ष में राजेन्द्रवावू ने गांधीजी का पूरा साथ देकर विहार की जनता का मन मोह लिया था। अव गांधीजी की पुकार पर सवसे पहले असहयोग कर उन्होने विहार का नेतृत्व अपने कधों पर लेकर हमें कृतार्थ किया था।

ऐसे और वही राजेन्द्रवावू हमारे आचार्य होंगे, हम उनके चरणो के निकट वैठकर ज्ञान प्राप्त करेंगे, यह कल्पना ही हमे मुग्ध वनाने के लिए काफी थी !

कई मित्रों के साथ मैं पटना पहुंचा। समूचा पटना नए जीवन से तरंगित था। प्रान्त के कोने-कोने से लोग आए थे। विद्यार्थियों की संख्या सवसे अधिक थी। असहयोग करके आये हुए वकीलो और प्रोफेसरो की भी भरमार थी। आज के वुद्धपथ पर, जो उन दिनो पटना-गया-रोड कहलाता था, एक नए मकान के अहाते में सभा हुई। कैसी भीड़ ! उन दिनो लाउड-स्पीकर था नही, तो भी ऐसा सयम कि उस भीड़भाड मे भी गांधीजी की वातें हम सुन सके, अच्छी तरह सुन सके। गाधीजी ने विद्यापीठ का उद्घाटन किया। झरिया से इसके लिए उन्हें रुपए मिले थे। सभा मे भी दान के लिए अपील की—कई देवियो ने हाथ की चूडिया तक निकालकर दे दी, अन्य गहनो की तो वात ही क्या !

राजेन्द्रवावू की उस दिन की मूरत आज भी याद है। अपनी सादगी के लिए वह सदा विख्यात थे; किन्तु उस दिन की उनकी सादगी और सौम्यता कुछ अजव ही छटा दिखा रही थी। लम्वा, छरहरा शरीर, श्यामल मुखमंडल। उठी हुई नाक के नीचे वेतरतीव मूंछें और उसके अगल-वगल वे दो पीली-पीली आँखें, जिनसे सुनहली किरणे फूटती-सी

मालूम देती। सिर पर ऊँचे पल्ले की गांधी टोपी, जो उनकी ऊँचाई को और भी वढा रही थी। मोटी खादी का खुरदरा कुर्ता, जिसके बटन भी ठीक से नही लगे थे। खादी की ही धोती, जो मुश्किल से घुटनो के नीचे पहुँच रही थी! राजेन्द्रवावू को पहली ही वार देखा था, किन्तु उस दिन के राजेन्द्रवावू विहार के करोड़ो किसानो के सोलहो आने प्रतिनिधि लग रहे थे।

विद्यापीठ खुली, वह शहर से दीघाघाट की देहात में आई। स्वर्गीय मौलाना मजहरुल हक द्वारा स्थापित सदाक़त-आश्रम विहार-कांग्रेस का सदर दफ्तर और विद्यापीठ का अध्ययन-केन्द्र वना। जंगल में मगल मनने लगा। एक तरफ विद्यार्थियो का कलरव, दूसरी तरफ कार्यकर्ताओ का कोलाहल। वीच में राजेन्द्रवावू का सौम्य, शान्त व्यक्तित्व—मानो प्रशान्त और अतलान्तक सागरो के वीच एक पुल। मेरे जैसे चपल लोग, उस पुल से कभी उस सागर के तट पर, कभी इस सागर के तट पर आते-जाते रहते।

१९२१ का तूफान वढता गया, वढता गया और उसके साथ ही राजेन्द्र वावू का व्यक्तित्व भी ऊँचा उठता गया। विहार का स्वतन्त्र अस्तित्व कव से न विलीन हो चुका था, विहार की गौरव-गरिमा कव की न धूल में मिल चुकी थी! अव इस नए युग में राजेन्द्रवावू के व्यक्तित्व के साथ नया विहार देश के नक्शे पर अपना नाम सुनहले अक्षरो मे लिख रहा था। हमारी प्रसन्नता का क्या कहना! मै दावे के साथ कह सकता हूँ, जिस प्रकार विहार का एकछत्र नेतृत्व राजेन्द्रवावू को मिला था, वैसा अपने प्रदेश मे किसी भी नेता को शायद ही कभी नसीव हुआ हो। देश में उस समय भी वडे-से-वडे नेता थे—देशवन्धु चित्तरजनदास, प० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, अलीवंधु, इन सवको पूरे देश का सम्मान मिला था, किन्तु इनके अपने प्रदेश मे ही इनकी ओर उगली उठानेवाले लोग कम नही थे। किन्तु यह राजेन्द्रवावू थे, जो एक स्वर से समूचे विहार का प्रतिनिधित्व करते थे। लोगो को आश्चर्य होता था, कभी-कभी इसे विहारियो की भेडियाधसान की प्रवृत्ति मानकर इसपर व्यग भी कसा जाता था, किन्तु ऐसे लोग भूल जाते थे राजेन्द्रवावू की उन

खूबियो को जिनके कारण सारा विहार उनके पीछे चलने में गौरव अनुभव करता था।

इतना वड़ा व्यक्तित्व रखकर भी राजेन्द्रवावू कभी यह अनुभव नहीं होने देते थे कि वह सर्वसाधारण से पृथक नेता नामक कोई किंभूत, किमाकार जीव है। उनकी वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन सबमें साधारणीकरण की अद्भुत छाप थी। सबकी तरह मोटी धोती और कुर्ता सबके साथ एक ही पंक्ति मे बैठकर वही साधारणतम भोजन—भात-दाल या रोटी-सब्जी, सबके समान ही विछावन-तकिया। उनके निकट कोई भी किसी समय जा सकता था। वह किसी भी कार्यकर्ता के साथ एक ही इक्के पर या रेल के थर्ड क्लास के एक ही डब्बे में बैठकर सफर कर सकते थे। अपने व्यक्तित्व का वोझ किसीपर नही लादते थे। अपना विस्तर आप उठाकर चल देने मे उन्हे जरा भी हिचक नही होती थी। छोटे-छोटे कार्यकर्ताओ के नाम भी उन्हें याद रहते, जव कभी वह उनके निकट जाते, वड़े प्रेम से उनका हालचाल पूछते। अपने सुख-दुख की गाथा वे वडे विस्तार से कहते जाते और राजेन्द्रवावू विना ऊब के उनकी वातें ध्यान से सुनते जाते। जो सहायता के पात्र होते, उनकी सहायता करने में वह किसी हद तक जा सकते थे। ऐसे नेता को स्वभावतः एकछत्र नेतृत्व मिल जाय, तो इसमें आश्चर्य की क्या वात है!

१९२१ का तूफान वीता। १९२२ से १९२९ तक की वह जहरीली प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। वकीलो ने वकालत शुरू की, विद्यार्थियो ने स्कूल-कालेज पकडे। वड़े-वडे नेता विधान-सभाओ की ओर लपके। आपस की 'तूतू-मैंमैं' चलने लगी। तरह-तरह के झगडे खड़े हुए। हिन्दू-मुसलमानों के वीच दंगों का एक लम्वा सिलसिला शुरू हुआ—भाई के खून से भाई के हाथ रंगने लगे। वह दानवी चिल्लाहट—'हर हर महादेव', 'अल्लाहो अकवर'! महादेव और अल्लाह जहा कही भी हो, अपने इन नाम-लेवों पर निस्सदेह सिर धुनते होगे! हिन्दुओ मे आपस की जात-पात की रगड़ शुरू हुई। कोई अपनी जाति का राज्य वनाना चाहता था, कोई अपनी जाति का। चुनावो ने इस जले पर नमक छिड़का। सारे देश में अन्धकार था। ऐसे अवसर पर सारे देश में जिन कुछ लोगो ने प्रकाश-

स्तम्भ का काम किया, उनमें राजेन्द्रबाबू अन्यतम थे।

जब सारा देश इस प्रतिक्रिया की चपेट मे पडा था, राजेन्द्रबाबू सदाकत-आश्रम में तपस्या की घूनी रमा रहे थे—वह तपस्या नही जो अन्तर्मुखी हो, अपने आपमें केन्द्रित हो और अचल हो। उनकी तपस्या बहिर्मुखी थी, जनमुखी थी, जगम थी। सदाकत-आश्रम मे विद्यापीठ का काम चल रहा था—यही नही, प्रान्त के कई अचलो मे राष्ट्रीय विद्यालय शान से चल रहे थे। इनके द्वारा राष्ट्रीयता की नींव तरुणो के हृदयो मे दृढमूल की जा रही थी। खादी के उत्पादन के लिए सुसगठित प्रयत्न जारी था। विहार की खादी अपनी बारीकी और सस्तेपन के लिए देशभर में सुनाम पा रही थी। अपने व्यवहार से, वचन से ही नही, राजेन्द्रबाबू साम्प्रदायिकता और जात-पाँत की दावाग्नि को विहार मे सहार-ताडव मचाने से रोक रहे थे। देहात के कोने-कोने मे फैले राष्ट्रकर्मियो से निकट सम्पर्क बनाकर, उन्हे तरह-तरह के रचनात्मक कार्यो मे जोतकर वह सदा उन्हे निराशा के चक्र मे फस जाने से बचाते। वह प्राय प्रान्त के कोने-कोने में यात्रा करते और जहा जाते, वहा की जनता और कार्यकर्ताओ मे उत्साह का सचार करते। पूरे सात साल तक राजेन्द्रबाबू द्वारा की गई इस अनवरत साधना का ही फल था कि १९३०-३२ के सत्याग्रह मे विहार ने न केवल देश-व्यापी, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की।

अपने कार्यकर्ताओं की भावना का खयाल राजेन्द्रबाबू जितना रखते थे, उसके कई प्रसंगो का पुण्यस्मरण कर आज भी मुझमे पुलक हो आता है। राजेन्द्रबाबू विशुद्ध अहिंसावादी हैं। आतकवादी कार्यो को उन्होने कभी पसन्द नही किया। किन्तु जब कभी उन्हींके अनुयायी, अग्रेजो की कुनीति से ऊबकर, हिंसा के मार्ग पर चल दिए और काल-क्रम से वे पकड़े गए और उनपर सशस्त्र विद्रोह और षड्यन्त्र के मुकदमे चले, तब राजेन्द्रबाबू ने उनके मुकदमे की पैरवी के लिए कुछ उठा नहीं रखा। यह सच है कि राजेन्द्रबाबू ने यदि उस समय उनकी अच्छी पैरवी न कराई होती तो उनमें से कितनो को फांसी हो गई होती। जब यतीन्द्रनाथदास की शहादत पर पटना के युवको ने जलूस निकालना

चाहा और पुलिस ने उसपर रोक लगा दी तो स्वयं राजेन्द्रबाबू उसमे कूद पडे और पुलिस को हारकर जुलूस की आज्ञा देनी पडी। उस समय उनके कई सहकर्मियो ने उन्हे समझाना चाहा कि यह आतंकवादियो की बात है, हमें इसमें नही पड़ना चाहिए, किन्तु राजेन्द्रबाबू ने स्पष्ट कह दिया कि जब हमारे नौजवानों ने तय कर लिया कि रोक के बावजूद वे जुलूस निकालेंगे, तब यह नही हो सकता कि हम बैठे रहे और उन्हे सड़को पर पुलिस के डडे खाने को छोड़ दे।

राजेन्द्रबाबू देखने मे ही सौम्य नही हैं, उनकी धमनियो में भी सौम्यता के ही रक्त का संचार होता है। किन्तु उनकी सौम्यता के अन्दर एक अपूर्व दृढता और तेजस्विता छिपी है, यह उनके निकट रहने वाले जानते हैं। १९३० की एक घटना याद आ रही है। देशभर मे नमक-सत्याग्रह चल रहा था। बिहार मे भी कई स्थानो पर सत्याग्रह जोरो से जारी था। राजेन्द्रबाबू प्रान्तों के उन सभी स्थानो के दौरे कर रहे थे। इधर पटना मे कुछ नही हो रहा था। कुछ नौजवान कुछ करना भी चाहते थे, किन्तु बुजुर्ग उनके हाथ रोक रहे थे। प्रान्तभर मे धू-धू आग जल रही हो और हम सिर्फ दूर से हाथ सेकते रहे, नौजवानो को यह पसद न था। अन्ततः मुझे राजेन्द्रबाबू की सेवा में भेजा गया। मुजफ्फरपुर स्टेशन पर ही उनसे भेट हो गई। मैने सारी बातें बताई। संयोगवश हमारे एक बुजुर्ग नेता भी उसी गाडी से वहां पहुचे थे। मै राजेन्द्रबाबू से बाते कर ही रहा था कि वह आ पहुचे और शर्तो की बात कहकर राजेन्द्रबाबू को समझाने लगे। राजेन्द्रबाबू ने उनकी बातें सुन ली। फिर बगल में खड़ी रेलगाड़ी के एक डब्बे मे बैठ गए और एक आज्ञापत्र लिख दिया—शर्त सिर्फ शान्ति की, जो जहा चाहे, सत्याग्रह शुरू कर दे। उन नेता महोदय की क्या बात, मै भी राजेन्द्रबाबू की यह तेजस्विता देखकर दग रह गया।

बिहार मे यह बात सर्वविदित है कि जब गाधीजी ने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो'—का नारा शुरू किया, तब राजेन्द्रबाबू ने बिहार के चुने हुए राष्ट्रकर्मियो को एकत्र किया था और साफ शब्दों में कह दिया था कि हमे इस बार अंग्रेजी राज्य को "धँसा देबे के चाही !" इस 'धँसाना'

शब्द का सही हिन्दी पर्यायवाची शब्द क्या होगा, मै नही जानता। भोजपुरी में इसका जो अर्थ है, वह अंग्रेजी के 'पैरालाइज्ड' शब्द से मिलता-जुलता है । यही नही, राजेन्द्रबाबू ने उन लोगो की एक सूची भी बना ली थी, जो देश के इस अन्तिम मुक्ति-सग्राम में अपने प्राणो की आहुति बिना हिचक दे सकते थे। १९४२ की अगस्त-क्रान्ति मे बिहार में सचमुच अंग्रेजी सरकार थौंस चुकी थी!

श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू की रचनात्मक प्रतिभा की धाक तो प्रारम्भ मे ही देश पर छाई हुई थी, किन्तु उसका सबसे बडा प्रमाण तब मिला, जब बिहार में भूकम्प हुआ। १९३४ का भूकम्प! भूकम्प क्या, खड—प्रलय समझिए। राजेन्द्रबाबू जेल मे थे। बिहार-सरकार को अक्ल आई, वह छोड़ दिए गए। जेल से निकलते ही रिलीफ का कैसा सुन्दर प्रबन्ध किया। उस अवसर पर मेरे गाँव मे कई बार राजेन्द्रबाबू गए और मेरी कुटिया को सनाथ किया।

उसके बाद ही वह बम्बई-कांग्रेस के सभापति चुने गए। इसे हम सबने बिहार का सम्मान माना।

यहा राजेन्द्रबाबू की हिन्दी-सेवा का उल्लेख कर देना भी उचित होगा। बिहारी छात्र-सम्मेलन द्वारा उन्होने हिन्दी की ओर विद्यार्थियो का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लेखादि का जो सिलसिला चलवाया था, उसका उल्लेख किया जा चुका है। जब पटना विश्वविद्यालय कायम हुआ, शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाने के लिए उन्होने प्रारम्भ से ही जोर दिया। पटना मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वह शानदार अधिवेशन उन्होने ही कराया था, जिसके सभापति मध्यप्रदेश के प० विष्णुदत्त शुक्ल थे। बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना में भी उनकी प्रेरणा ने हमे बल दिया था। प्रादेशिक सम्मेलन के अधिवेशनो मे वह अवश्य ही सम्मिलित होते थे और प्रान्त के साहित्यिको को सदा पथ-प्रदर्शन देते थे। प्रादेशिक सम्मेलन ने उन्हे दरभंगा अधिवेशन का सभापति बनाकर अपनेको गौरवान्वित किया था। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति-पद उन्हे

सौंप कर हिन्दी-संसार ने उनकी हिन्दी-सेवा पर स्वीकृति की मुहर लगाई। कांग्रेस के साथ होनेवाले राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के तो वह सदा प्राण रहे। राजेन्द्रबाबू अपना पत्र-व्यवहार सदा हिन्दी में करते थे। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने में भी उन्हे संकोच नही था। पटना से प्रकाशित साप्ताहिक 'देश' उनका अपना पत्र था, उसमें वह प्रायः लिखा करते थे। अन्त मे तो उसके सम्पादक भी वही थे।

सबसे बढकर अपनी 'आत्मकथा' हिन्दी में लिखकर उन्होंने इस भाषा को कितना बड़ा गौरव प्रदान किया है, इसे कौन हिन्दी-भाषी अनुभव नही करेगा! राजेन्द्रबाबू ने इस 'आत्मकथा' में जैसी हिन्दी का व्यवहार किया है, वही सरल, सरस, प्रांजल भाषा एक दिन राष्ट्रभाषा का स्थान पाएगी, यह मेरा दृढविश्वास है।

कांग्रेस के सभापति की हैसियत से उन्होने देश के कोने-कोने का दौरा कर एक नई परम्परा चलाई। वह जहां गए, सर्वत्र उन्हें शाही स्वागत मिला, थैलियां मिली, अनेकानेक उपहार मिले। उन्हींके सभापतित्व-काल मे कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई, जिसकी धूमधाम के सामने सम्राट पचम जार्ज के राज्यकाल की रजत-जयन्ती फीकी पड़ गई। इस अवसर की एक मधुर घटना याद आ रही है। मैं उन दिनो 'योगी' का सम्पादन कर रहा था। इस अवसर पर मैंने 'शहीद-अंक' निकालने का विचार किया। उसके लिए राजेन्द्रबाबू से एक लेख मागा और साथ ही निवेदन किया, क्यों न काग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती के साथ शहीद-वन्दना का भी कार्यक्रम रखा जाय। राजेन्द्रबाबू उन दिनो दक्षिण भारत की यात्रा मे थे, उनका बड़ा ही व्यस्त कार्यक्रम था। तो भी उन्होंने एक लेख तुरन्त भेजा और एक वक्तव्य प्रकाशित कर स्वर्ण-जयन्ती के कार्यक्रम में शहीदों के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करना, उनका स्मारक बनाना, उनके परिवार की सहायता करना आदि भी सम्मिलित कर दिया। अपने उस लेख का प्रारम्भ राजेन्द्रबाबू ने फारसी के एक शेर से किया था, "मर्गे अम्बोह जशने दारद"। अर्थात्—साथ का मरना स्वयं एक उत्सव है!

राजेन्द्रबाबू ने देश में जो समा बांधा, उसीका फल था कि १६३५ के केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस को शानदार सफलता मिली और १६३७ के आम चुनाव में भारत के सात प्रान्तों की विधान-सभाओं पर कांग्रेस का कब्जा हुआ। १६३२ के आन्दोलन के समय भारत-मंत्री सर सैम्युयल होर ने गर्व से कहा था, "कुत्ते भूकते रहेंगे, कारवां चलता जायगा।" ससार ने कुछ ही वर्षों के बाद देखा, वे कुत्ते कारवां के ऊंटों की गर्दन पर सवार थे और उन्हे झकझोर कर अधमुआ कर रहे थे !

१६४२ मे जब राजेन्द्रबाबू जेल भेजे गए तो वहां उन्होंने 'इण्डिया डिवाइडेड' नामक वह आकर-ग्रंथ लिखा, जो आंकड़ों का आगार है। उसमें उन्होंने सिद्ध किया कि यदि भारत के टुकड़े किए गए तो आर्थिक दृष्टि से उसका विकास रुक जायगा। किन्तु अक्ल की बात साम्प्रदायिक कट्टरता के सामने हार गई। और क्या यह सच नहीं है कि पाकिस्तान आज जिस मुसीबत में फंसा है, उसकी झलक राजेन्द्रबाबू ने पहले ही दे दी थी।

जेलों में राजेन्द्रबाबू सदा एक आदर्श कैदी रहे। १६३० में हजारीबाग जेल मे जबतक रहे, नियमित रूप से जेल के कारखाने में जाकर काम करते रहे। मैं 'कैदी' नामक एक हस्तलिखित पत्र वहां निकालता था। 'प्रजा का धन' शीर्षक से उसमे एक लेख देकर राजेन्द्रबाबू ने अपने लोगों मे आग्रह किया कि वह कुछ काम जरूर करें, क्योंकि आखिर वे जो अन्न खा रहे हैं, वह तो प्रजा का ही धन है। ऐसा करके हम उसकी कुछ भरपाई कर सकेंगे। जेल मे नियमित रूप से चरखा कातना, पढ़ना-लिखना आदि के साथ उनका एक काम यह भी होता कि अपने सहकर्मियों और अनुयायियों के बैरकों मे जाते, उनसे मिलते, उनसे हालचाल पूछते और जिन्हें जरूरत होती, उनकी सहायता का प्रबन्ध इस तरह करा देते कि वह जान भी न पाता कि कहां से क्या हो रहा है।

इसके बाद की घटनाएं तो जग-जाहिर हैं। राजेन्द्रबाबू केन्द्रीय सरकार के खाद्य-मंत्री बने। उस समय अकाल का बादल देश के ऊपर मंडरा रहा था। राजेन्द्रबाबू ने बड़ी मुश्किल से उसे टाला। विधान-

परिषद के सभापति के रूप मे उन्होंने देश को एक अच्छा विधान पाने में कितनी सहायता की, उसका सबूत यह है कि जब उस विधान के अनुसार भारत का जनतंत्र स्थापित हुआ, देश ने उनके सर पर राष्ट्रपति का ताज रखा।

विहार को इसका गर्व है कि उसने स्वतन्त्र भारत को प्रथम राष्ट्रपति दिया।

: ५ :

यूरोप के कलाकार

अपनी दो बार की यूरोप-यात्राओं में रंगमंच और चित्रशाला देखना मेरा सबसे प्रिय कार्य रहा। इंगलैंड की नेशनल गैलरी, फ्रान्स की ला-लूव्र और वारसाई की चित्रशालाएं, जिनेवा और बर्न की चित्रशालाएं, फ्लारेंस की चित्रशाला और पित्ती की गैलरियां, वेनिस की आधुनिक चित्र-प्रदर्शिनी, रोम की वेटिकन गैलरी—इन सबमें कितने घण्टे अपनी आँखों को मैंने तृप्त किया था! पेरिस में बीसवीं सदी की कला-प्रदर्शिनी तो विचित्र थी और मेरा यह सौभाग्य था कि उसी समय यूरोप के प्रायः हर शहर में लियोनार्दो द विंची की जयन्ती मनाई जा रही थी। लियोनार्दो की प्रायः सभी कृतियां अपनी आँखों से देखकर कृत्कृत्य हुआ और बीसवीं सदी की कला की गूढता ने तो मुझे विस्मय-विमुग्ध कर दिया।

कलाकारों की कलाकृतियां! 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'—तुलसी की यह चौपाई बार-बार याद आती थी। किन्तु जब इन कलाकारों के जीवन-चरित पर उतरा, यह जानना शुरू किया कि जिनकी ये कृतियां हैं, उनका चरित्र कैसा था, वे कैसे पले, कैसे बढ़े, उन्हें किन संघर्षों का सामना करना पड़ा, उन्हें कहांतक सफलता मिली, तब तो ऐसा लगा कि मैं सहसा एक ऐसे टापू में डाल दिया गया हूं, जहां के सभी प्राणी विचित्र हैं, रंग में, रूप में, स्वभाव में, आचार में, व्यवहार में।

जरा उनमें से कुछसे आप भी भेंट कर लीजिए।

लियोनार्दो द विंची—यूरोपीय कला का यह पिता, किन्तु अपने पिता की अवैध संतान—देखने में अति सुन्दर, साथ ही अत्यन्त प्रतिभावान, बचपन से ही गाने-बजाने और चित्रकारी में रुचि—उम्र के साथ प्रतिभा का भी विकास होता गया और अन्ततः तो वह 'जादूगर' कहा जाने लगा। पृथ्वी और आकाश का कोई रहस्य नहीं, जिसे जानने

और सुलझाने के लिए उसने चेष्टा नहीं की। वायुयान, टैंक, जल-कल, सबके बारे मे अन्वेषण करता रहा, वास्तुकला और चित्रकला तो उसकी जीवन-सहचरी रही। बलवान इतना कि घोड़े के नाल को हाथ से दबाकर टेढ़ा कर देता।

लियोनार्दो ने उम्र भी लम्बी पाई—१४५२ से १५१९ ई० तक वह जीवित रहा। इन सड़सठ सालो में, प्रारम्भ के कुछ वर्षों को छोड़कर, पूरी उम्र उसने कला की आराधना में ही बिताई। तीस वर्ष फ्लोरेंस में, बीस वर्ष मिलान मे, सत्रह वर्ष इधर-उधर घूमते-घामते, इटली के इस सपूत ने फ्रास के राजा की छत्रछाया में, अपने देश से दूर, अन्तिम समाधि ली।

इस कलाचार्य की कूची ने जिसे स्पर्श किया, वह अमर हुआ। ईसा के 'अन्तिम भोजन' पर जो चित्र बनाया, उसपर तो एक बड़े साहित्य का सृजन हो गया है। और, 'मोना लिसा'—उसे तो कुछ लोग यूरोप की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति मानते हैं। इस छोटे-से चित्र पर वह तीन वर्ष तक काम करता रहा और मरते समय कहता गया कि अफसोस, मैं इसे पूरा न कर सका!

"सभी सौन्दर्य, मानवी सौन्दर्य भी, मर-मिट जाते हैं। जीवित रहते हैं, अमर हो जाते हैं सिर्फ वे सौन्दर्य, जिन्हे कला में बाध दिया जाता है।"—अपने इस कथन की सार्थकता मे उसने जहां-जहां सौन्दर्य देखा, सबको अमरता देने की कोशिश की। देवी, देवता, परियां, सुन्दरिया—यही नही, घोडे, कुत्ते, भेडिये भी उसकी कूची से अमरत्व प्राप्त कर सके हैं। अपने घोडे की जो तस्वीर उसने बनाई, वह भी एक अमर कलाकृति है।

इतना बडा कलाकार, बड़े-बडे लोग उसके प्रशंसक, हमेशा सयम मे रहा—कभी कोई स्त्री उसे विचलित नही कर सकी, तो भी, उसका जीवन सघर्षों में ही कटा और अपने अन्तिम दिनो मे उसने अपनी डायरी मे, अपने बाएं हाथ से लिखा—"जहा मैं सोचता था कि जीना सीख रहा हूं, वहा देखता हूं, मै मरना सीख था।"

लियोनार्दो के बाद माइकेल ऐंजेलो—महानतम व्यक्तियों में भी महानतम। कवि, इतिहासकार, आलोचक, औपन्यासिक—किसने अपनी लेखनी को इस कलाचार्य की कथा लिखकर धन्य नही किया? रोम्यां रोलां ने उसके बारे में लिखा है—"माइकेल ऐंजेलो के समान उस समय तक कुछ नही देखा गया था। उसको गए इतने दिन हो गए, तो भी कला की दुनिया उसकी तूफानी आत्मा के ही चारो ओर चक्कर काट रही है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, कविता—सबको उसने अपनी बलिष्ठ बाहुओ से पकडा और सबमे अपनी अलौकिक शक्ति और उज्ज्वल आदर्शवाद का सचार किया। उसे समझा कितने लोगो ने, यह विवादास्पद है, किन्तु अनुकरण तो सभी कलाकारो ने किया।"

माइकेल ऐंजेलो का जन्म, फ्लोरेंस, (इटली) मे एक गरीब के घर में हुआ था। स्कूल में पढते समय से ही चित्रकला की ओर उसकी रुचि देखी गई। तेरह वर्ष की उम्र मे वह एक चित्रकार का सहकारी बन गया। थोड़े दिनो के बाद वह एक प्रसिद्ध मूर्तिकार का सहकारी बना। उसने लिखा है—"अच्छा हुआ कि मेरे हाथ मे छेनी और हथौडा आया, चित्रकला तो औरतो के लिए है।"

छेनी और कूची दोनो में ही उसने थोडे दिनो में कमाल दिखलाना शुरू किया। मानवीय स्नायुओ के सही-सही चित्रण के लिए वह चुपचाप मुर्दो को श्मशान से उखाड लाता और चीरफाड कर देखता। मुर्दों की चीडफाड से उसे बार-बार उल्टी आती, पीछे तो उसकी आत तक उलट गई, जिस कारण जिंदगी भर उसे खाने-पीने में रुचि नही रही, तो भी वह अपनी धुन में लगा रहा। मासपेशियो और स्नायुओ की जैसी उभाड और बहार माइकेल ऐंजेलो की कला में देखी जाती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

पत्थर और रग से जिस दुनिया का उसने निर्माण किया, उसने उसे अमर कीर्ति ही नही दी, अपितु धन-वैभव का भी ठिकाना न रखा, लेकिन उसके लिए ये सब तुच्छ थे—कभी बिछावन पर नही सोया, कभी अच्छा भोजन नही किया। अपनी कला में मस्त वह दिन-रात काम करता रहा।

उसकी कलाकृतियों में काम-भावना का नितान्त अभाव है। उसकी कला में पौरुष सजीव हो उठा है। स्त्रियों की मूर्तियो में भी यौवन का वह रूप है, जहां वासना फटक नही सकती।

सिस्टाइन के प्रार्थना-गृह की छत में उसने जो तस्वीरें बनाई, वे, मालूम होती हैं, देवताओं की बनाई हुई हैं! सृष्टि की पूरी कथा वहां अंकित है। आदम की आकृति तो देखते ही बनती है—मनुष्य के प्रथम पूर्वज ऐसे ही हो सकते हैं, सहसा मुँह से निकल पड़ता है! वर्षो तक अधर पर लटकते हुए ढठ्ठर पर अपनेको चित्त लिटाकर, उसने छत पर ये तस्वीरें बनाईं—तीन सौ तैंतालीस तस्वीरें, जिनमें अधिकांश दस फुट से १८ फुट तक की हैं।

लियोनार्दो की तरह ही नही, उससे भी बढकर, मांइकेल एंजेलो ने लम्बी उम्र पाई थी— १४७५ से १५६४ तक वह जीवित रहा। इस उम्र का पल-पल उसने कला की आराधना मे बिता दिया।

इन दो महान इटालियन कलाकारों के बीच मे राफेल। दो चट्टानों के मध्य मे संगमरमर की एक मूर्ति—कोमल, चमकीली, तुनुक! राफेल सिर्फ सैंतीस वर्ष जीवित रहा—१४८३-१५२० तक। लेकिन यूरोपीय कला पर वह अपनी स्थायी छाप छोड़ गया। छोटी उम्र मे ही काफी कीर्ति पाई, काफी मौज उडाई। अपनी प्रियतमा के घर से लौट रहा था, वर्षा हुई, ठंड लग गई, चल बसा!

फिर तिशियन—जिसकी कला में इटली की सारी रंगीनी और करुणा केन्द्रित है। तब ब्यूगेल, जिसने हॉलैंड के जन-जीवन को कला-क्षेत्र मे आदर का स्थान दिलाया। और, हालबिन—वह जर्मन, जिसने अपनी कला पर कभी इटालियन छाप नही आने दी।

रूबेन एक फ्लेमिश कलाकार था। क्रैवेन कहता है—"इसमें शक हो सकता है कि सबसे बड़ा कलाकार कौन है, किन्तु यह तो मान ही लेना है कि सबसे बड़ा चित्रकार रूबेन है। शब्दों की दुनिया में जो स्थान शेक्सपियर का है, रगों की दुनिया में वह स्थान रूबेन को मिला है। उसकी आकृतियों में सार्वभौमता है, उसके रंगो मे विविधता है। मानवता का कोई ऐसा रूप नही, जिसका चित्रण उसने नही किया।

उसकी एक-एक रेखा बोलती है। मुंह की आकृति कह देती है कि ठीक इसके मुंह से यह बात निकलेगी !

वह एक सुखी मध्यवित्त परिवार का आदमी था। अच्छी शिक्षा मिली थी। सात भाषाओं में वह आसानी से बातचीत कर सकता था। चित्रकला की प्रारंभिक शिक्षा पाकर वह घोडे पर इटली के लिए रवाना हुआ। वहा से जो सीख कर लौटा, उसमें अपनी मौलिकता जोडी। स्पेन गया, इंगलैंड गया। जहां गया वहा सम्मान और ऐश्वर्य पाया। देखने में सुन्दर, व्यवहार में सज्जन। कोई बुरी लत नही। अपनी पत्नी से ही संतुष्ट। उसने भी नंगी तस्वीरें बनाईं, किन्तु उसकी नग्नता में वासना की बदबू नही, विधाता के सौन्दर्य-दान की झलक मिलती है।

एेन्टवर्प में उसका घर यूरोप के तत्कालीन कलाकारो का तीर्थस्थान था। वही से उसने यूरोप के राजभवनो, गिरजाघरो और कलाकेन्द्रो के लिए तीन हजार से ज्यादा चित्र भेजे। फ्लोरेंस की एक महिला के लिए उसने चित्रो के अट्ठारह पैनेल १३ फुट × १० फुट के, तीन सन्धान १३ फुट × २४ फुट के तथा आदमकद के कितने ही चित्र तैयार किए। माइकेल ऐंजेलो के सिस्टाइन चैपेल की चित्रावली से ही इसकी तुलना की जा सकती है।

रैम्ब्राड—वह कलाकार जिसे प्रकृति और समाज ने समान रूप से सताया, चूर-चूर किया, किन्तु जिसने पराजय नहीं स्वीकार की। हॉलैंड, लीडन मे सन् १६०६ ई० में इसका जन्म हुआ था। मा चाहती थी, वह पादरी बने। पिता चाहते थे डाक्टर बने—किन्तु अपनी धारो पर वह तस्वीरें बनाता रहा। इक्कीस वर्ष में ही अपने शहर का प्रसिद्ध चित्रकार बन गया, दिन-रात काम करता, काफी पैसे मिलते, खूब खर्च करता, बीवी के लिए जवाहरात, अपने लिए चित्रो के नमूने खरीदने में कभी कंजूसी नही दिखाई।

किन्तु यह अवस्था न टिकी। बच्चे-पर-बच्चे हुए और मरते गए। बीवी चल बसी। कला मे ऐसी मौलिकता लाने लगा कि लोग समझ नही पाते। सब लोग शरीर का चित्रण करते, वह आत्मा को चेहरे पर प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा करता। खरीददार कम होते गए, वह और

भी धुन से अपनी नए प्रयोग में लगा। कर्ज ! फिर कुर्की ! एक चमार ने नीलाम में उसकी सारी जायदाद खरीद ली !

तोभी उसने हार न मानी। एक छोटे-से मकान में, बचे-खुचे सामान को लेकर उसने अपनी दुनिया बसाई। खाने को एकाध टुकडा मिल गया, वही बस। दरिद्रता उसके मन पर कोई कटुता नही ला सकी। उसने जो चित्र बनाए, वे चित्रकला के अनुपम शृङ्गार समझे जाते हैं। अभाव मे, कष्ट मे, सकट मे, सघर्ष मे जो चीजें वह संसार को दे गया, उनके कारण अन्ततोगत्वा संसार को उसकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ी और पीछे तो 'वान लून' ने उसकी ऐसी जीवनी लिखी, जिसकी उतनी कापिया बिकी, जितनी किसी भी जीवनी की कभी नही बिकी थी।

एल ग्रेको, क्रीट (ग्रीस) का वह कलाकार, जो बहुत दिनो तक विस्मृत रहा—और वेलास्क्वेज पुर्तगाली कलाकार—दोनो मे वह अतर जो दस्तोवेस्की और हेमिंग्वे मे—एक आन्तरिक पीड़ाओ और भावनाओ का चितेरा, दूसरा दुनिया की सतह का हूबहू चित्र रख देने वाला। फिर वरमीयर जिसने साधारण में विशेष का आरोपण किया। उसने देवी-देवता, राजा-रानी, अनुपम सुन्दरी असाधारण व्यक्तियो को छोडकर पनिहारिन, अहीरिन, सोनारिन या शहर की एक साधारण गली या नदी-तट के एक साधारण दृश्य का ऐसा चित्रण किया कि वे कला के अनुपम नमूने बन गए। अहीरिन के जो चित्र उसने १६८६ मे चौदह पौंड मे बेचे थे, वही दो शताब्दी बाद चौबीस हजार पौंड (साढे तीन लाख रुपये) मे खरीदे गए थे।

गोया—किसान का बेटा, शारीरिक शक्ति और मेधाशक्ति दोनो मे राक्षस-सा। कलाकार, गवैया, तलवार चलाने में उस्ताद, डाकुओ का सरदार। फ्रास के एक पहाड़ी गांव मे पैदा हुआ। झगडे मे एक आदमी की हत्या करके स्पेन भाग गया। मैड्रिड मे भी कलह हुआ तो रोम भागा। रोम मे रंडियो का बाजार उसे सबसे प्रिय था और जब गिरजाघर की एक सबुडन पर लट्टू हुआ तो रात में चोरी से घुसकर, मन्दिर से उसे उड़ा लाया ! स्पेन लौटकर शादी की तो उसकी बीबी

हमेशा गर्भ से ही रहती—बीस संतानें हुई, जिनमें एक को छोड सबका असामयिक निधन हुआ !

कूची में भी वैसा ही कमाल। चार्ल्स छठे ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। किन्तु वहा भी वही बहक—सिंहासन, सेना, कानून सबके व्यग्यचित्र बनाए जाते। पादरियो की सूरत ऐसी बिगाड़ी जाती कि राजा के हस्तक्षेप ने ही उसे जिन्दा जलाये जाने से बचाया—कृतज्ञता मे उसके गिरजाघर में तीन महीने के अन्दर सौ आदमकद चित्र बना दिए। लम्बी उम्र पाई थी—लगभग अस्सी वर्ष। कितने राजाओ को देखा, शहजादियो को देखा। एल्बा की डचेस का उसके जीवन मे खास स्थान है—वह उसकी चित्रशाला में आया करती और कहा जाता है कि उसने जिस सुन्दरी का अनुपम नग्न चित्र बनाया है, वह यही सम्भ्रान्त महिला है।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि अबतक यूरोप की चित्रकला में कोई अग्रेज नही आया ? इगलैंड के जिस चित्रकार ने यूरोप के कलाकारो में सबसे पहले स्थान पाया, वह होगार्थ है—सत्तरहवी शताब्दी के अत में। अपने समय के अंग्रेज-जीवन का सही चित्रण करने में उसने कमाल किया है—कटु, मधु, क्रूर, दयालु, कामान्ध, साधु—सबको सही रूप उसने दिया। चित्रो में कथा अंकित कर देने की नई कला का आविष्कर्त्ता वही है। उसके जमाने में गैरिक मशहूर अभिनेता था। होगार्थ कभी उसका अभिनय देखने नहीं गया। वह कहता—"मेरी चित्रशाला ही मेरा रगमंच है, उसके नर और नारी उसके नट और नटी। फिर मै कही नाटक देखने क्यो जाऊँ ?"

एक अद्भुत चित्रकार था ब्लेक—जन्म से मृत्यु तक जो सपने देखता रहा और सपनों को जिसने मूर्तरूप दिया। यूरोप की कला अबतक 'मॉडेल' के आधार पर चलती रही। उसने गम्भीर घोष किया—"सामने मॉडेल रख लो और ऐसी तस्वीर बना दो कि आखो को धोखा हो जाय—भला यह भी कोई कला है ? यदि प्रकृति की नकल करना ही कला हो, तब तो कला हाथ का कौशल-मात्र है—उसे कोई भी कर सकता है और बेवकूफ सबसे अच्छा कर लेगा, क्योकि दिमाग की

उसमें जरूरत कहां ?" यों अपने पूर्ववर्ती कलाकारों की भर्त्सना करता हुआ वह आगे कहता है—"अपनी कल्पना को उडान भरने दो। उसे तबतक विचरण करने दो जबतक तुम्हारी आखें उसे मूर्तरूप में न देखने लगें। बस, कला की नीव तैयार हो गई।" दाते की 'डिवाइन कॉमेडी" का जो चित्रण उसने किया, इस नई कला की उत्कृष्टता का स्थायी प्रमाण है।

ब्लेक का ही कला-सहोदर टर्नर—दोनों इंगलैंड के। टर्नर ने कला को एक दूसरा ही रुख दिया। ब्लेक ने प्रकृति की उपेक्षा की, वह प्रकृति के गूढ़ रहस्यो की वैज्ञानिक की तरह छान-बीन करता और उन्हे मूर्तरूप देता रहा। वर्षो तक वह पैदल घूमता रहा, इंगलैंड के कोने-कोने को छान डाला और उन्हे चित्रों में अमर कर दिया। धरती से उसे प्रेम था और समुद्र से उससे भी अधिक। तूफानों में वह समुद्रो मे चला जाता और अपनेको मस्तूल में वांध लेता कि तरंगों के उत्थान-पतन और वादलो के चढ़ाव-उतार को अच्छी तरह देख सके। उसने हजारों चित्रो के खाके बनाए और दो हजार तो पूरे चित्र हैं उसके! अन्त में वह रहस्यवादी वन गया—पहाडो का चित्रण वह सूर्य-रश्मियो के पुंज में और नदी का चित्रण प्रकाश की धारा में करता।

अमेरिका को जिसपर नाज है, वह है औडुवन। इसका जन्म फ्रांस में हुआ था। गरीब आदमी। जहाज पर नौकरी की, अमेरिका में जा वसा। वचपन से ही कला में रुचि—अमेरिका के पंछियों को उसने अपने चित्रण का मुख्य केन्द्र वनाया और वह संसार के कलाकारो में 'चिड़ियो के कलाकार' की हैसियत से प्रसिद्ध है, जिनके चित्रण के लिए वह जंगलो, समुद्र-तटों, झीलों आदि के इर्द-गिर्द, जीवन के अधिकाश भाग मे, चक्कर काटता रहा। पंछी जब गति मे, क्रिया में होते थे, तब का चित्रण उसे अधिक प्रिय था, इसीलिए उसके चित्र जीवनमय हैं, अमर हैं।

फिर फ्रांस के तीन कलाकार—दोमिये, माने और लाउत्रे। तीनों के तीन रंग। दोमिये—कार्टून का पिता। राजा के व्यंग्यचित्र पर जेल की हवा खाई। किन्तु न झुका, न रुका। जिन्दगी-भर गरीबी मे रहा—

पेरिस में उसकी कुटिया मे बड़े-बड़े लोग आते। एक दिन उनमें से एक कह रहा था—"अफसोस, दोमिये को इस बुढ़ापे में जीविका के लिए परेशान होना पडता है।" उसने सुन लिया, कहा—"मेरे दयालु मित्रो, मेरी परेशानी की चिन्ता मत करो, तुम लोगों के पास रियासतें हैं, मेरे लिए जनता है और मैंने जनता का ही वरण किया है।" सोन नदी के किनारे गरीब मछुओ को देखकर उसके मुह से आह निकली—"मेरी सांत्वना के लिए तो मेरी कला है, किन्तु हाय ! इन बेचारे गरीब मर्द-औरतो के लिए ?"

माने—यथार्थवादी चित्रण का आचार्य। बेचारे को यथार्थवादिता के लिए पूरी सजा भुगतनी पड़ी—'अश्लीलता का अवतार' 'सनसनीवाद का पिता'—क्या-क्या उपाधिया उसे नही दी गई। लेकिन एक दिन उसका लोहा सबको मानना पड़ा। वह उन्नीसवी सदी के सर्वोत्तम व्यक्तियो मे गिना जाने लगा।

लाउत्रे—बड़े घराने का लाडला। घुडसवारी मे दोनों टाग तोड-कर पंगु बन गया। उसके बाद वह समाज के निम्न स्तर मे घुसा—वेश्या-लयों, शराबघरो, जुआ-अड्डो का वह अखाडिया बन गया और उनके जीवन के ऐसे चित्र बनाए कि वे कला-भवनो के शृङ्गार बन गए। कहा जाता है, शब्दो की दुनिया में जो मोपासाँ का स्थान है, रंगो की दुनिया में वही लाउत्रे का है।

कही कलाकार इतना कुरूप होता है—वान गौघ को देखकर कोई भी कह उठता। लम्बी नाक, चिपटा मुह, धंसी आखे, मुडे लाल बाल—एक साथ ही वह किसान, कैदी और ईसाई शहीद मालूम होता। जिन्दगी भर प्यार पाने को छटपटाता रहा, हमेशा ही दुत्कार पाई। एक बार एक वेश्या से प्यार चाहा तो उसने कहा—"क्या उपहार में अपने कान दोगे ?" और, हजरत ने अपने कान काटकर भेज दिए !

लेकिन कुरूपता का बदला प्रकृति ने प्रतिभा का वरदान देकर प्रचुर मात्रा में चुकाया था। इस उच्च कलाकार ने अपनी कूची से जो रचनाए की, वे संसार की उच्चतम कलाकृतियो में गिनी जाती हैं और जिस प्रदर्शनी मे उसके चित्र रखे जाते है, वहा भीड़ लग जाती है। उसकी

मृत्यु भी विचित्र हुई। कान कटने से जो घाव हुआ, उसके लिए यह अस्पताल गया। एक दिन अस्पताल में उसने अपने पेट में गोली मार कर वगल के रोगी से कहा—"जरा निशाना आजमा रहा था।" और वस !

फिर सिजाने और अव हम आधुनिक चित्रकला मे पहुच गए। सिजाने की कला को ही लेकर पिकासो ने आधुनिक कला को जन्म दिया, जो अमूर्त, अभौतिक, वनकर अन्ततः छिटपुट रेखाएं और अस्फुट चिह्नो तक पहुच गई है !

: ६ :

जो शब्दशः आचार्य थे

जब उस दिन सध्या को खबर मिली कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी नही रहे तो लगा, जैसे एक ज्योतिपुज ग्रहपिंड, शायद बृहस्पति, आंखो के सामने ही टूट कर गिर पडा है। सारा वायुमडल थर्रा उठा, फिर सन्नाटा ..सन्नाटा।

ज्ञान, कर्म, साधना। मानव-जीवन की तीन अनुपम उपलब्धिया। अपने देश में बड़े-बडे ज्ञानी हो गए हैं, कर्मवीरो की भी कमी नही रही। साधको की सख्या भी बडी है, किन्तु एक ही पुरुप मे ज्ञान, कर्म और साधना का पूर्ण समन्वय हुआ हो, ऐसे उदाहरण ससार मे विरल हैं, अपने इस महादेश में भी। जहा ज्ञान वहा कर्म की कमी, जहा कर्म वहा साधना का अभाव। जहा तीनो एकत्र हो, वैसी त्रिवेणी तो किसी देश को परम सौभाग्य से ही मिल पाती है।

आचार्य नरेन्द्रदेव मे इन तीनो का ऐसा समन्वय हुआ था कि आज जब वह नही रहे, देश के राष्ट्रपति से लेकर साधारण आदमी तक उनका अभाव अनुभव कर रहा है। लगता है, हमारे जीवन मे, देश के जन-जीवन में, एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया है, जिसका भरा जाना सुदूर भविष्य मे भी सम्भव नही।

यो तो 'आचार्य' शब्द का आजकल दुरुपयोग हो रहा है, किन्तु इस शब्द के साथ ज्ञान की जिस गरिमा और महिमा का बोध होता है, वह आचार्य नरेन्द्रदेव में पूर्णत. प्रतिफलित हुई थी। ज्ञान की विविध धाराएं उनमे आकर इस प्रकार समाहित हुई थी, जिस प्रकार सागर मे विविध नदियां। समाजशास्त्र के वह पडित थे, दर्शन के प्रकाड विद्वान, अर्थशास्त्र और राजनीति के मर्मस्थल को भी वह छू सके थे। इतिहास के उत्सस्थान तक उनकी पहुच थी। भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न अगो का उन्होंने मनन किया था, यूरोपीय दर्शन के अनुशीलन की ओर उनका

अनुराग था। कई भारतीय भाषाओ और यूरोपीय भाषाओं में उनकी पैठ थी। ज्ञान की किसी धारा के सम्बन्ध मे उनसे बातें कीजिए, लगता था, आप किसी वायुयान चालक की बगल में बैठे हैं, जो आपको ऊंचे-से-ऊंचे ले जाकर अंतरिक्ष के उन रहस्यो को प्रत्यक्ष दिखला रहा है, जिनकी आपने कल्पना तक नही की थी।

भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन ने उन्हे अधिक आकृष्ट किया था। भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष वह बौद्धधर्म में मानते थे। इसी प्रकार यूरोपीय दर्शन में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन को वह आधुनिक युग के लिए प्रकाश-स्तम्भ समझते थे। ज्ञान के क्षेत्र में वह पूरब पच्छिम के भेद को नही मानते थे। ऐसा करना वह ज्ञान को सीमाओ में बांधने की तरह गर्हित मानते थे। इसीलिए वह अन्त तक अपनेको मार्क्सवादी कहने मे नही हिचकते थे। किन्तु यहा भी उनका मार्क्सवाद कट्टरता का सहचर नही था। हर दर्शन की तरह मार्क्सवादी दर्शन को भी वह विकासशील समझते थे और इसमें शक नही कि उसके भारतीय प्रयोग मे उन्होने अनेक नई कडिया जोडी थी। चूंकि उन्होने अपनेको सदा घन-घोर राजनीति में रखा, अतः उनके द्वारा जोड़ी गई उन कड़ियो पर निरपेक्षता से ध्यान नही दिया जा सका, किन्तु अब जब वह नही रह गए, उनकी ओर लोगो का ध्यान जायगा ही।

उनके ज्ञान के सम्मुख उन्हे भी सिर झुकाना पड़ता था, जो राज-नीति मे उनके विचारो से सहमत नही थे। श्री पट्टाभि सीतारमैया ने अपने अहमदनगर-जेल के संस्मरण मे लिखा है कि हमारे साथ जो लोग थे, सब-के-सब अपने विषय मे अन्यतम थे। सरदार पटेल, प० जवाहर-लाल नेहरू आदि की विशेषताओ की चर्चा करते हुए 'विद्वता मे अन्य-तम' उन्होने आचार्य नरेन्द्रदेव को ही माना था।

अपने इस अगाध ज्ञान का उन्होने उन्मुक्त दान दिया। काशी विद्यापीठ के आचार्य की हैसियत से उन्होंने देश को कितने ऐसे स्नातक दिए, जो देश के विभिन्न क्षेत्रो में जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह चमक रहे हैं। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि स्वतंत्र भारत को जितने योग्य शासक, जितने जनसेवक आचार्यजी ने दिए, उतने किसी भी एक

व्यक्ति या सस्था ने नही दिए । देवघर से दिल्ली तक उनके शिष्यो का जाल फैला है, और जो जहाँ हैं, वहा अपनी योग्यता और कर्मठता का सिक्का जमाए हुए हैं ।

उत्तर भारत के दो प्रमुख ज्ञान केन्द्रो, लखनऊ विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय, का उपकुलपति के रूप मे सफल संचालन करके उन्होने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र मे अपनी स्थायी छाप छोड़ी है । निकट से जाननेवाले जानते हैं कि इन सस्थाओ का संचालन-सूत्र उन्होने किस अव्यवस्थित दशा में सम्हाला था और जब उन्होने इनसे विदा ली, किस सुव्यवस्था मे इन्हे छोडा । शिक्षा, भाषा, लिपि, आदि के लिए जब-जब किसी आयोग की रचना की गई, आचार्यजी को भुलाया नही जा सका और उनमें उनकी स्थिति अध्यक्ष की रही हो या सदस्य की, उनकी रिपोर्टो में आचार्य के व्यक्तित्व की छाप अलग से ही परिलक्षित होती थी ।

प्राय देखा जाता है, जो ज्ञान के क्षेत्र का महान व्यक्तित्व है, वह कर्म के क्षेत्र में बौना ही सिद्ध हुआ है । आचार्य नरेन्द्रदेवजी इसके विपरीत उदाहरण थे । एक मेधावी विद्यार्थी की हैसियत से ही देश के सार्वजनिक कार्यो में उन्होने सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया था और जब महात्मा गाधी ने असहयोग आन्दोलन का शखनाद किया, उनके आह्वान पर पहली कतार में खडे होनेवाले राष्ट्रकर्मियो में वह थे । वकालत छोडकर वह सक्रिय राजनीति के क्षेत्र मे आए और काशी विद्यापीठ के आचार्य-पद को सुशोभित करते हुए वह जन-आन्दोलन को कभी नही भूले और न अपने सहयोगियो और शिष्यो को ही भूलने दिया । काशी विद्यापीठ सिर्फ विद्यापीठ नही थी, वहा ज्ञान के साथ कर्म का पाठ भी पढाया जाता था और वहा के शिक्षको और छात्रो ने देश की स्वतंत्रता के युद्ध मे वह शानदार हिस्सा लिया कि अपने नामो के साथ अपनी इस सस्था को भी अमर कर दिया ।

१९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन के साथ पूर्णरूप से आचार्यजी राजनीति के कर्मक्षेत्र में कूद पड़े । राजनीति में भी पिटी-पिटाई लीक पर न चलकर उन्होंने एक नया कदम रखा । उनका गहरा अध्ययन उन्हे

समाजवाद की ओर उन्मुख कर चुका था, अत जव १९३४ में अखिल भारतीय समाजवादी दल का सगठन हुआ, उसका अध्यक्षपद स्वभावत. उन्हे अर्पित किया गया। यह वहुत कम लोगो को मालूम है कि जव समाजवादी दल के संगठन के लिए हम पटना मे प्रारम्भिक अधिवेशन करने जा रहे थे तो प० जवाहरलाल नेहरू के ही सत्परामर्श से हमने आचार्यजी को उसका अध्यक्ष चुना था। तव से मृत्यु-पर्यन्त वह इस दल के प्रमुख स्तम्भ रहे। यह भी विधाता का ही विधान है कि समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में ही उन्होने अखिल भारतीय राजनीति में प्रवेश किया और दल के अध्यक्ष की हैसियत से ही उनका स्वर्गारोहण हुआ। दल का वाईस वर्षो का जीवन उनके जीवन के साथ ओत-प्रोत रहा।

समाजवादी दल ने काग्रेस के अन्दर रहकर काम करना तय किया था। आचार्यजी ने काग्रेस को क्या दिया, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अपनी मृत्यु के पहले महात्माजी काग्रेस की गद्दी पर आचार्यजी को अधिष्ठित करना चाहते थे। यदि ऐसा हो गया होता तो भारत के इतिहास ने एक नया ही मोड़ लिया होता। अपने गहरे ज्ञान और अथक कर्मशीलता के कारण वह एक युग तक उत्तर प्रदेशीय काग्रेस का सूत्र संचालन करते रहे। जव १९३७ में भारत मे प्रथम वार काग्रेसी मंत्रिमडल की स्थापना हुई तो उत्तर प्रदेश का मुख्य-मन्त्रित्व उनको सौंपने की इच्छा प्रकट की गई थी, किन्तु चूकि समाजवादी दल ने अपने सदस्यो को किसी पद के ग्रहण करने से मनाही कर दी थी, आचार्यजी ने अनेक आग्रहो के वावजूद अपनेको इस पद से अलग ही रखा। समाजवादी दल के इस निर्णय में आचार्यजी का प्रमुख हाथ था। तो भी पं० जवाहरलाल नेहरू ने काग्रेस-कार्यसमिति में उन्हे सादर सम्मिलित किया और उसके सदस्य की हैसियत से देश के गाढे अवसर पर देश की रहनुमाई में उन्होने जिस योग्यता से हाथ वंटाया, उसे कौन नही जानता ?

जव समाजवादी दल मे काग्रेस से पृथक होने की चर्चा छिड़ी, आचार्यजी इस विचार के विरोधियों में थे। उन्होंने अपनी स्वाभाविक

विनोदमयी भाषा में कहा था, "हम वैसे आशिक हैं, जो माशूक के दरवाजे पर तबतक पडे रहेंगे जबतक वह बेवफा हमारी गर्दन मे हाथ लगाकर अपने अहाते से बाहर न कर दे।" किन्तु जब बम्बई मे काग्रेस ने यह निर्णय किया कि काग्रेस के अन्दर किसी पार्टी का अस्तित्व नही स्वीकार किया जा सकता तो उन्हीकी अध्यक्षता मे नासिक में काग्रेस से अलग हो जाने का निर्णय किया गया। आचार्यजी के कितने ही प्रिय साथी और शिष्य उनसे बिछुड गए, किन्तु वह अपनी जगह पर अटल और अडिग डटे रहे।

समाजवादी दल ने किसानो और मजदूरो के संगठन की ओर ध्यान दिया। मजदूरो का सगठन तो कुछ था ही, किन्तु भारतीय किसानो का कोई सगठन नही था। जब पहली बार अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन का आयोजन किया गया, सर्वसम्मति से उसका अध्यक्ष आचार्यजी को ही चुना गया। उसके अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण भारतीय किसानो की आकाक्षाओ और आशाओ का वह दस्तावेज है, जो आज भी अपना मूल्य नहीं खो सका है। जब दूसरा विश्व-युद्ध छिडा, फिर दूसरी बार अखिल भारतीय किसान-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होने भारतीय किसानो को क्राति के लिए आह्वान किया और १९४२ की क्राति मे भारतीय किसानो ने जो योगदान दिया, आचार्यजी को उससे बड़ा ही सन्तोष था।

आचार्यजी साम्राज्यवाद से समझौते के घोर विरोधी थे। देश के बटवारे का उन्होने जबर्दस्त विरोध किया था। इसी प्रकार भारत अग्रेजी कामनवेल्थ के अन्दर रहे, यह स्थिति भी उनके लिए असह्य थी। किन्तु उनके विरोध मे कही कटुता या व्यक्तिगत ईर्ष्या, द्वेष का नाम न था। वह सदा एक ऐसे ऊँचे स्तर से बोलते थे कि जिनका वह विरोध करते थे, वे भी उनकी कदर करते थे। राजनीति मे व्यक्तिगत राग-द्वेष को वह सदा घृणा की दृष्टि से देखते थे और अपनेको सदा उससे दूर रखते थे। गाधीजी से कई बातो मे उनका मतभेद था, किन्तु आचार्यजी के इन्ही गुणो के कारण गाधीजी का पूर्ण स्नेह उन्हे प्राप्त था। क्रिप्ससाहब दिल्ली पहुँचे उन दिनो की बात है। देशके भाग्य-निर्णय के विषय मे गम्भीर परामर्श चल रहा था।

गांधीजी दिल्ली छोड़कर वर्धा को चले। पत्र-प्रतिनिधियो ने उनसे पूछा, "आप कुछ दिन और क्यों नही ठहर जाते ?" गांधीजी ने जवाब दिया, "एक डाक्टर अपने रोगी को किस प्रकार भूल सकता है ?" वह रोगी और कोई नही, आचार्य नरेन्द्रदेव थे, जो उन दिनो दमे से अत्यधिक पीड़ित होकर गांधीजी के निमन्त्रण पर सेवाग्राम पहुंच गए थे और गांधीजी उनकी प्राकृतिक चिकित्सा कर रहे थे।

उनके दुबले-पतले शरीर को दमे ने बहुत दिनो से झकझोर रखा था, किन्तु इस असाध्य और कष्टदायक रोग के बावजूद उन्होंने अपने कार्य में कभी कमी या त्रुटि नही आने दी। इस रोग से लड़ते हुए भी वह दिन-रात काम में लगे रहे। पिछली गर्मियों की बात है। समाजवादी दल में फूट पड़ी थी। उसके अस्तित्व पर संकट के बादल मडराते दीखते थे। अचानक आचार्यजी ने उत्तर प्रदेश और बिहार का दौरा शुरू कर दिया। इन पंक्तियों के लेखक ने काशी में उनसे कह दिया, "यह आप क्या कर रहे हैं ?" उन्होंने अपनी स्वाभाविक मुस्कान से कहा, "सवाल आ गया है, मैं अपनेको बचाऊं और पार्टी को मरने दू, या पार्टी को जीवित रखा जाय और अपनेको मारूं ? मैंने इस दूसरे को चुन लिया है।"

किन्तु यहां समझ लेना है कि पार्टी का अर्थ उनके सामने क्या था ? पार्टी का संकुचित रूप उनके सामने कभी नहीं रहा। जनतन्त्र के साथ वह विरोधी पक्ष की नितान्त आवश्यकता समझते थे और विरोधी पक्ष सत्तारूढ़ पक्ष से अधिक क्रांतिकारी हो, तभी देश का कल्याण सध सकता है। विरोधी पक्ष छोटा ही क्यों न हो, किन्तु उसकी आस्था दृढ़ होनी चाहिए, उसके कदम सही पड़ने चाहिए, उसमें उच्च चरित्र और अटूट अध्यवसाय होना चाहिए, तब छोटा होकर भी वह सत्तारूढ़ पक्ष को प्रभावित कर सकेगा, उसे अपने लक्ष्यों की ओर खींच सकेगा।

कर्म ! कर्म ! कर्म ! उनका सारा जीवन कर्ममय था। जब मृत्यु का घेरा उनके निकटतर पहुंचता जाता था, उन्होंने अपने कर्म-दीपक की लौ को और भी ऊँचा कर दिया था। मृत्यु के तीन दिन पूर्व वह पार्टी की कार्यसमिति मे जाकर एक घण्टे तक अपना विचार सुना आए थे।

अपने 'बौद्ध दर्शन' के शेषाश को पूरा करने में वह अन्त तक लगे हुए थे। देश का हित-चिन्तन करते हुए ही उनकी अन्तिम सास टूटी।

आचार्य नरेन्द्रदेव उन साधको मे थे, जिनकी साधना पर देश को सदा अभिमान रहेगा। इस दृष्टि से वह आर्ष ऋषियो की कोटि मे थे, सारे जीवन को मोमबत्ती की तरह घुलघुलकर उन्होने जलाया कि दूसरो को—समाज को, देश को, संसार को प्रकाश मिलता रहे। उनका जीवन ऋषियो का जीवन था—त्यागमय, तपस्यामय। भोग का, वैभव का कभी सपने में भी उन्होंने विचार नही किया। उन्होने सदा अपनेको अकिंचन रखा। एक बार पूज्य राजेन्द्रबाबू ने सदाकत-आश्रम मे, स्वराज्य के पूर्व, कार्यकर्ताओ को सावधान करते हुए कहा था, "जहा तपस्या होती हैं, उसे विचलित करने के लिए, अपने पुराणो में कहा गया है, अप्सराए आती हैं, ऋद्धि-सिद्धिया आती हैं, आप लोग सावधान रहिएगा।" आजादी के बाद हमारे तपस्वियो के निकट इनका हगामा-सा जुट गया, और कितने लोग हैं जो विचलित होने से बचे ? उन इने-गिने लोगो की जब मणिमाला बनाई जायगी, आचार्यजी उसके 'सुमेरु' सिद्ध होंगे। वह क्या नही प्राप्त कर सकते थे, किन्तु कभी निगाह उठाकर भी उनकी ओर नही देखा।

बडे-से-बडे आदमी की सबसे बडी कमजोरी होती है कीर्ति-लालसा। कीर्ति के लिए, यश के लिए, प्रसिद्धि के लिए वे लोग भी झुक जाते हैं, जो ससार के सारे ऐश्वर्यो को ठुकराने से नही झिझकते। कीर्ति-लालसा पर अकुश रखना संसार की सबसे बड़ी साधना है। इस साधना की कसौटी पर भी आचार्यजी को कई बार कसा गया और वह सदा खरे निकले। वह अजातशत्रु थे, किन्तु प्रमादवश जिन्होने अपनेको उनका प्रतिद्वन्द्वी समझा था, उनके सिर भी आचार्यजी की इस साधना के निकट अनेक बार झुके और अपनी मृत्यु के बाद तो आचार्यजी ने सिद्ध कर दिया कि यथार्थतः उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी था ही नही। वह सबके थे, उन्हे खोकर सारे देश ने अनुभव किया, उसने कोई अपना खोया है। आचार्यजी की अनुपम साधना की यह सबसे बडी विजय है।

ज्ञानी, कर्मयोगी, साधक इन तीनो आचार्य नरेन्द्रदेव के अतिरिक्त

एक और आचार्य नरेन्द्रदेव थे, वह थे मानव नरेन्द्रदेव। और यह मानव नरेन्द्रदेव इन तीन आचार्य नरेन्द्रदेव से ऊपर थे, यह कहने की धृष्टता मैं इसलिए करता हूं कि उनके निकट सम्पर्क में आनेवाले मेरे-जैसे छोटे व्यक्तियो को उसी नरेन्द्रदेव ने सबसे अधिक प्रभावित किया था। उनका दरबार सबके लिए खुला था। हां, सचमुच उनका दरबार लगता था। किन्तु उसके दरवाजे पर न कोई चोबदार होता और न अलग-अलग दर्जे के 'मनसबदार'। वहा सबका अबाध प्रवेश था, सबके लिए एक-सा आसन था। सबका स्वागत घनी मूछो के नीचे की अमद मुस्कराहट से होता था, सबकी कुशल-वार्ता झुर्रीदार चेहरे पर सतत खेलनेवाले उल्लास से पूछी जाती थी। वहा विद्यार्थी आते थे, शिक्षक आते थे, आचार्य आते थे, कुलपति आते थे, कार्यकर्ता आते थे, नेता आते थे, राज्य-कर्मचारी आते थे, मिनिस्टर आते थे, कवि आते थे, लेखक आते थे, किसान आते थे, मजदूर आते थे, सेठ आते थे, तालुकेदार आते थे, देविया आती थी, देवता आते थे—सबकी अपनी-अपनी समस्या, सबकी अपनी-अपनी बात। और सबके लिए एक-सा सरल, सादा, निष्कपट, निश्छल निबटारा क्या कोई उस दरबार से निराश लौटा ? जिसे कुछ न मिला, जिसे कुछ खोना पडा, उसने भी अनुभव किया, वह जो मागने आया था, उससे भी अधिक उसे मिल गया; जो खो दिया, उससे अधिक वह पा गया। बात-बात मे चुहल, बात-बात मे विनोद। कडवे घूट भी मिश्री मे घुले। वहा से मुहर्रमी चेहरे भी मुस्कराहट लिये निकलते।

इस मानव आचार्य नरेन्द्रदेव मे एक चुम्बकत्व था। उस चुम्बकत्व का अनुभव उनके निकट जानेवाले तुरन्त ही अनुभव करने लगते थे। लगता था, किसी अदृश्य डोर से वह निकटतर खिंचे जा रहे हैं। लखनऊ वही है, किन्तु कौन किसीको स्टेशन से सीधे खींचकर नए हैदराबाद की उस नन्ही काटेज तक ले जायगा ? चुम्बक उठ गया। हम लौहखंड सचमुच लौहखंड बन गए—ठंडे, निर्जीव, निस्पंद।

: ७ :

कोई सुखी नहीं

आन्द्रे मावरोई फ्रास का सुप्रसिद्ध लेखक है। अपनी लेखनी के कारण उसने विश्वव्यापी कीर्ति पाई है। पैसे भी खूब कमाए हैं। जीवनी लिखने मे तो उसने कमाल हासिल किया है। शेली की जीवनी उसने जब 'एरियल' के नाम से प्रकाशित की, साहित्य-संसार में उसकी धूम मच गई। जब वह आदमी अपनी आत्मकथा का नाम 'कौल नो-मैन हेपी'—('ससार में कोई सुखी नही') रखता है तो आश्चर्य होता है।

यह आत्मकथा उसने पिछले महायुद्ध में फ्रास के पतन के बाद लिखी थी, जब वह अपने देश से भाग कर अमेरिका चला गया था। स्वभावत. उसके जीवन पर उन दिनो दुख और शोक की काली घटा छाई थी। इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने पर वह छाया परिलक्षित होती है।

मध्यवर्ग के एक व्यापारी का पुत्र। पढने-लिखने मे बहुत तेज। अनायास अपने वर्ग मे प्रथम आता रहा। लेख लिखने की अखिल फ्रासीसी प्रतियोगिता मे प्रथम आया। एम० ए० की पढाई समाप्त करने के बाद फौजी शिक्षा ली। फिर अपने खान्दानी पेशे मे लगा—ऊन की एक मिल थी, उसके संचालन का भार लिया, बडी योग्यता से चलाया। मिल की आय काफी बढ गई।

इसी समय एक लडकी से परिचय। बडी सुन्दरी, किन्तु अनाथ। उसे इगलैंड भेजकर पढाया, फिर शादी की। शादी के प्रारम्भिक दिन बड़े मजे मे कटे। अचानक १९१४ की लडाई शुरू हुई। फौज में भर्ती हुआ। अंग्रेजी जानता था, इसलिए अंग्रेजी फौज के साथ दुभाषिए के रूप में रखा गया।

बचपन से ही लेखक बनने की आकाक्षा। उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्ति। एक उपन्यास लिखा। छापने को भेजा, लेकिन प्रकाशित नही

कराया। युद्धभूमि में लिखने की प्रवृत्ति वढ़ी। 'कर्नल ब्रैम्वल' नामक पुस्तक यही लिखी। मित्रों ने कहा—"छपवाओ।" लेकिन छपे कैसे? फौजी जीवन का चित्रण—खासकर अंग्रेजी अफसरो का। चित्रण में उज्ज्वल पक्ष ही, लेकिन फौज आखिर फौज है। तय हुआ, किसी उपनाम से प्रकाशित हो। मूल नाम था इमिल हर्जोग। उपनाम रखा—आन्द्रे मावरोई—आन्द्रे, चचेरा भाई जो इस युद्ध में मारा गया था, मावरोई एक गांव का नाम, जिसके करुण सौन्दर्य से वह विशेषतः प्रभावित था। आगे चलकर यही नाम जगद्विख्यात हुआ।

अध्ययन के दिनों में मावरोई एक अध्यापक से वहुत प्रभावित हुआ था, उसका नाम था अलेन। दर्शन का अध्यापक था, मौलिक विचारक। उसके कुछ विचारोत्तेजक कथन देखिए—सत्य के सम्मुख सम्पूर्ण हृदय से जाओ। सोलह वर्ष की उम्र मे जो अराजकतावादी नही हुआ, उसमें तीसवें वर्ष में इतनी शक्ति नही रह जायगी कि भाड़ झोंके। अव भगवान को ही आदमी के निकट आना है। किसी भी प्रमाण का मेरे निकट कोई मूल्य नही। छः महीने के रास्ते को छोडकर वर्ष भर का रास्ता पकड़ो। छोटे दिमाग के लोग तो छोटे दिल से प्रशंसा करते हैं।

अपनी इस आत्मकथा में मावरोई ने वताया है कि वह क्यों सदा मध्यम मार्ग पकडता रहा। एलेन के प्रभाव से कुछ दिनो तक वह समाजवादी हुआ; लेकिन मुख्यतः वह सुधारवादी ही है। हा, अपने देश फ्रांस के लिए उसमे असीम भक्ति है और वह अंग्रेजी शिष्टाचार का उपासक है। वह किपलिंग को वहुत सम्मान की दृष्टि से देखता था और उससे मुलाकात भी की थी।

पहले युद्ध से लौटने के वाद उसकी प्रवृत्ति साहित्य की ओर झुकी। 'कर्नल व्रैम्वल' की वड़ी तारीफ हुई; संस्करण-पर-सस्करण होते गए। पांच हजार, दस हजार, वीस हजार, पचास हजार। वड़े-वडे लोगों ने तारीफ लिखी—अनातोले फ्रांस ने भेंट करने को वुलाया। अंग्रेजी कमांडर-इन-चीफ ने भी तारीफ की और फ्रांस के तत्कालीन राष्ट्रपति क्लीमेंसो ने भी वधाई दी।

अव व्यापार के साथ पुस्तक-लेखन। दिनभर मिल की निगरानी,

शाम और रात को लिखना-पढना। कई पुस्तकें प्रकाशित हुई। फ्रास के सुप्रसिद्ध लेखको से जान-पहचान। जीदे से चार्ल्स दुवोस, एने देसजार दिन्स आदि से। एक वार जीदे ने पूछा—

"अव क्या लिख रहे हो ?"

"शेली की जीवनी।"

"क्यो ? मेरे घर आओ न, उसे जरा देख लूगा। तुम्हारा घर यहा से दूर नही है।"

"किन्तु, पुस्तक पूरी नही हुई है।"

"यही तो चाहिए। जो चीज पूरी हो गई होती है, उससे मेरी दिलचस्पी नही रहती। अधूरी चीज को ही तो कुछ सुधारा जा सकता है।"

शेली की इस जीवनी का नाम रखा गया 'एरियल'। 'एरियल' ने मावरोई की धाक साहित्य-जगत में जमा दी। अव उसने तय किया कि व्यापार में अपना समय नही लगावेगा। उसे भाई-भतीजो को सौप कर सरस्वती की पूर्ण आराधना मे लग गया। इंगलंड गया, वड़े-वडे लोगो से मिला। वहा भी प्रशसा-ही-प्रशसा मिली।

पारिवारिक जीवन में तीन वच्चे आए—दो वेटे, एक वेटी। किन्तु पत्नी इधर उदासीन रहने लगी। धीरे-धीरे वह वीमार हुई और चल वसी।

शोक में ही निमग्न था कि एक दूसरी स्त्री ने प्रवेश किया—ऐसी स्त्री, जिसका सम्वन्ध फ्रास के वड़े-वड़े लोगो से था। आन्द्रे जव उसके वारे मे लिखना शुरू ही करता है तो तुरन्त कल्पना होती है, यह स्त्री उसकी कुछ होने तो नही जा रही ? मार्सेल प्राउस्ट, अनातोले फ्रास ऐसे लोग इस पर तभी आसक्त थे, जव यह छोटी वच्ची थी। सुन्दर चेहरा, सुन्दर व्यवहार, सुन्दर लिखावट। और, अन्तत. यही होता है, वह मावरोई की अर्धांगिनी वन जाती है—योग्य अर्धांगिनी। यह एक वडे खान्दान से थी, जहां फ्रास के प्रेसिडेन्ट, प्रधानमत्री, महान कलाकार, वड़े-वड़े सेनापति आया करते थे। इस विवाह से मावरोई ने वहुत-कुछ प्राप्त किया।

इसी प्रसंग में मावरोई ने फ्रांस के दो राजनीतिज्ञो का वड़ा सुन्दर चित्रण किया है—पोईकेर और ब्रिया का। दोनो आन्द्रे की ससुराल के परिवार में आते, किन्तु कभी एक समय नही। पोईकेर वकील, ब्रिया कवि। पोइकेर को तथ्य और अंक चाहिए, ब्रियां को इससे घृणा। पाईकेर अपना भाषण अपने हाथो से लिख कर तैयार करता, ब्रिया सिगरेट वनाता, धुआ उड़ाता, धुआधार वोलता जाता। पोईकेर को जनमत से भय वना रहता, ब्रियां अपने वारे मे लिखी गई आलोचना को पढ़ता भी नही। एक कहावत मशहूर थी—पोईकेर जानता सव कुछ है, किन्तु समझता कुछ नही और ब्रिया जानता कुछ नही, समझता सवकुछ है। दोनों की ईमानदारी उच्चकोटि की। एक वार अपनी किताव का प्रूफ भेजना था, तो अपने सेक्रेटरी से पोईकेर ने कहा—देखो, यह मेरा निजी काम है। मिनिस्ट्री के किसी चपरासी को मत भेजो। यह लो पांच फ्रांक, किसी आदमी को देकर भेज दो। और ब्रिया के पास तीन करोड़ फ्राक विदेशी विभाग के थे, जिसे खर्च करने का एकमात्र अविकार उसीको था, किन्तु जव उसने आफिस छोडा, पूरी रकम एक-एक पाई लौटा दी। उसके वाद जो मंत्री हुए, उन्होने ब्रिया के वारे में कहा था—उसमे जो कुछ ऐव ढूढिए, वह ईमानदार हद दर्जे का था। यदि वह चाहता, तो इन पैसों से कुछ ही अखवारों पर खर्च करके फ्रास का राष्ट्रपति मजे मे वन सकता था।

इस नई दुलहिन के वाद आन्द्रे के जीवन का नया क्रम शुरू हो जाता है। नई-नई रचनाएं, नए-नए अनुभव। अमेरिका की यात्रा। अमेरिका के जीवन और यौवन से प्रभावित। एक मित्र को लिखा—"आओ, यदि जीवन और मानवता पर विश्वास हो तो अवश्य आओ। आओ, कुछ महीनो के लिए, आओ और कई सदियों की नौजवानी हासिल करो।"

इसी समय एक दुष्ट आलोचक से उसका पाला पड़ा। 'एरियल' की आलोचना करते हुए उसने तुहमत लगाई कि आन्द्रे ने अग्रेजी जीवन की भद उड़ाई है। आन्द्रे वहुत अंशो मे अग्रेजी जीवन का भक्त, फिर यह तुहमत! मारवोई ने इन निन्दको के विषय में लिखा है—"हमारे सर्वोत्तम काम

हमारे लिए उतने मित्र नही पैदा करते, जितने शत्रु हमारी छोटी-छोटी भूलें पैदा कर देती हैं। अनजाने ही मैंने कुछ लेखको के दिल दुखाए—अपने आध्यात्मिक गुरुओं मे उनके नाम नही गिनाए, अपने घर बुलाकर उन्हे दावतें नही खिलाईं, उनके लेखो की तारीफ नही लिख भेजी और सबसे बढ़कर उन्होने जो अपनी पुस्तकें भेजी, उनपर प्रशंसात्मक आलोचना नही लिखी। यह मेरी बड़ी भूल थी।" लेकिन इस निन्दा के कारण फ्रास के सुप्रसिद्ध लेखको ने मावरोई के पक्ष में लेखनी उठाई—हानि से अधिक लाभ हुआ।

अनेक रचनाओ मे 'वायरन' फिर चमकी। शेली से अधिक इसपर मेहनत भी की गई थी। वायरन के घर को देखा, उसके जीवन से सम्बन्धित स्थानो को देखा, उसके अप्रकाशित पत्रो को पढा, तब इसे लिखना प्रारम्भ किया। 'शेली' जैसी रोचकता इसमे नही, किन्तु विद्वानो से यह बहुत आदर पा सकी।

लडाई के बाद फ्रास की दुर्दशा। मन्त्रिमंडल वनते, विगडते। पूजीपतियो और मजदूरो मे संघर्ष। सोशलिस्टों और कम्युनिस्टो में सघर्ष। उधर जर्मनी मे हिटलर का उदय। फ्रास पर खतरा। साहित्यिक का कोमल हृदय जर्जरित। किन्तु क्या करे वेचारा? रचनाए चलती रही—खासकर जीवनिया, जिसके लिए उसे प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी और बीच-बीच में उपन्यास। उसके लिखे 'इगलैंड का इतिहास' का भी अच्छा स्वागत हुआ।

और अन्त में सबसे बडा सम्मान—फ्रेंच एकेडमी की सदस्यता प्रदान की गई। फ्रेंच एकेडमी यह अजीव संस्था! इसके सदस्यो की सख्या उस समय उनतालीस थी। मावरोई को पहली बार असफलता मिली थी। एक मित्र ने कहा—"घवराओ नही, विक्टर ह्यू गो को तीन वार असफलता मिली थी। इकत्तीस वोट मे तुम्हे ग्यारह मिले, यह सौभाग्य भी क्या कम है?" किन्तु इस दूसरी वार मार्शल पेता जैसे लोग उसके समर्थक थे। सदस्यता की दरखास्त पर भी वहुत-कुछ निर्भर रहता है—वह संक्षिप्त हो, उसमे सादगी हो, उसमे अलकार न हो, फिर उनतालीस व्यक्तियो से मिलना, जिनमे लेखक हैं, वैज्ञानिक हैं,

सेनापति हैं, मंत्री हैं, राजदूत हैं। एक-से-एक वढ़कर। मावरोई का प्रतिद्वंद्वी भी मामूली नही था। वड़ी कशमकश रही। अन्त में उन्नीस-तेरह वोट से विजय मिली। विजय के वाद उसका एकेडमी-भवन में शाही स्वागत। २२ जून, १९३९।

और, उसके वाद, मावरोई लिखता है—जव-जव अनुभव किया कि मैं वहुत सुखी हू, अप्रत्याशित आपत्ति आ ढही। शायद देवताओ को मनुष्य के आनन्द से ईर्ष्या होती है।

जर्मन ने दूसरे विश्वयुद्ध का प्रारम्भ कर दिया। पोलैंड पर चढ़ाई। मावरोई के दोनो वेटे, दामाद युद्धक्षेत्र में गए। उसने भी अपनी सेवा अर्पित की। अग्रेजी जानने के कारण वह फिर अंग्रेजी फौज का ल्याजां अफसर वनाया गया।

युद्ध के समय फ्रांस की हालत—नौजवानो मे जोश, सैनिको में जोश, किन्तु अस्त्र-शस्त्र प्राप्त नही। न वन्दूक, न तोप, न वायुयान, न गोले। क्या खाकर वे जर्मनो को रोक सकेंगे? मेजिनो लाइन—किन्तु यदि जर्मन सेना वेलजियम के रास्ते से आ गई तो? और वही हुआ। जर्मन-सेना वाढ की तरह वढ़ती आई, फ्रांस को पदाक्रात किया। मावरोई मुश्किल से इंगलैंड पहुंचा और वी० वी० सी० के माइक से वोला—आप फ्रास की मदद कीजिए, किन्तु कव? १९४१ मे नही, अगले महीने नही, कल नही—आज इसी घड़ी, इसी क्षण। किन्तु क्या सभव था?

फ्रांस का पतन हुआ। जव इस पतन का समाचार मावरोई को मिला, वह कमरे के भीतर चला गया, विछावन पर वेतहाशा गिर गया और वच्चों की तरह फफक-फफक कर रोने लगा।

इंगलैंड से अमेरिका। वहीं यह आत्मकथा लिखी—न्यूयार्क सिटी, ८ अक्तूवर, १९४१—पुस्तक के अन्त मे यह दर्ज है।

: ८ :

विनोबा के साथ दो दिन

"आप लोग तो भ्रमर हैं। जहा सुगन्ध होगी, विना बुलाए पहुच जायगे। मै जो काम कर रहा हूं, लगता है, उसमें वह सुगन्ध नही आ सकी है कि आप लोग पहुंच सकें। किन्तु निवेदन करूंगा, देश में जो एक महान क्रान्ति हो रही है, आप उसे देखें।"

"वाणी द्वारा ही भीतर और वाहर का मिलन होता है। वाणी ही अन्तर्जगत का वहिर्जगत से समागम कराती है। आप उसी वाणी के वरद पुत्र हैं। आपकी वाणी का वरदान इस यज्ञ को भी प्राप्त हो, यही मेरी कामना है। किन्तु यह वरदान आप तभी दें, जव वह हृदय से निकले। हृदय में स्फुरण न हो, तव भी आप कुछ कहेंगे तो वह फलदायी नही होगा। हृदय से निकली वाणी ही हृदय को स्पर्श करती है।"

ऊपर के ये दो उदारण मैं अपनी डायरी के पन्नो से दे रहा हूं, जो ३-८-५३ को गया में लिखे थे। सत विनोवा के प्राइवेट सेक्रेटरी का तार पाकर मै उनसे मिलने गया पहुंचा था। कुछ और साहित्यिक वन्धु भी थे। हमे सम्वोधित करते हुए सत ने जो एक प्रवचन दिया था, उसी के ये दो अंश हैं। संत ने पटना मे, तथा गया में भी, आग्रह किया था कि हम उनके साथ कुछ दिनो तक घूमे और स्वय देखे कि इस आन्दोलन के तत्व क्या हैं? मैंने कहा था कि जव आप मेरे जिले में आयगे, आपकी सेवा मे उपस्थित होऊंगा।

जव खवर मिली, विनोवाजी ३१ तारीख की भोर मे दरभगा जिले से मुजफ्फरपुर जिले मे प्रवेश कर रहे हैं और संयोग से मेरे थाने, कटरा में ही उनका प्रवेश हो रहा है तो मुझे अपने वादे की याद आई और मै दौड़ा-दौडा बुधकारा पहुचा, उस सौभाग्यशाली गाव में, जिसमें संत के चरण मेरे जिले में पहले-पहल पड़े।

बुधकारा का वह पुण्य प्रभात वहुत दिनो तक याद रहेगा। संत

अपनी यात्रा सदा चार बजकर बीस मिनट पर प्रारम्भ कर देते हैं। हम लोग चार बजे से ही अपने जिले की सीमा पर उनकी प्रतीक्षा में खड़े थे। तरह-तरह के नारे लग रहे थे, तरह-तरह के झडे उड रहे थे। तरह-तरह के लोग थे, नेता थे, कार्यकर्ता थे, मिनिस्टर थे, दारोगा थे, जमीदार थे, किसान थे, पूजीपति थे, मजदूर थे, काग्रेसी थे, सोशलिस्ट थे। कृष्णपक्ष की दशमी की हल्की चांदनी चारों ओर बिछी थी। आकाश मे थोडे ही तारे थे, जो अब झुक-झुककर अपने विलीन होने की सूचना दे रहे थे। झीना कुहासा छाया हुआ था। रह-रहकर ठंडी हवा का झोंका आ जाता था। हम बडी उत्सुकता से उस ओर देख रहे थे, जिस ओर से संत का आगमन होनेवाला था। दरभंगा जिले में जहा संत का अन्तिम पड़ाव था, वह यहा से कुछ दूर न था। यही से हम वहा की रोशनी देख रहे थे। अन्त में वह रोशनी हिलती नजर आई, फिर हमारी ओर बढती दिखाई दी। लोगों में आनन्द का उल्लास आया। हमने कोशिश की थी, पात बनी रही, किन्तु संत का आगमन हुआ कि ऐसा ज्वार उठा कि अब पात की बात कहा सोची जा सकती थी! बीच मे संत चल रहे थे, चारों ओर लोग दौड रहे थे। थोड़ी दूर यही स्थिति रही। हमने सम्हालने की कोशिश की, किन्तु सब निष्फल। संत रुके, सभी रुके। संत ने कहा, "तुम लोग हमारे पीछे चार-चार पात में चलो।" हमने लोगों को चेतावनी दी—देखो, हम तुम्हे बढने नही देंगे, चार-ही-चार आगे बढ़ो। सत ने झिडक दिया—"नही-नही, हुक्म नही।" फिर जनता की ओर मुखातिब होकर कहा—"सुनो, हममे से कोई भी तुमपर हुकूमत करने वाला नही। तुम स्वय चार-चार पात बनाते चलो और चले चलो।"

जनता पर, लोगो पर, इतना विश्वास! "कोई तुमपर हुकूमत करने वाला नही!"—मैं मन-ही-मन सोच रहा था, संत यह क्या बोल गए? गाधीजी के बारे मे लोगो का कहना था—वह अराजकवादी हैं। राज्य के मानी हैं शासन, हुकूमत। तुमपर कोई हुकूमत करने वाला नही—क्या अराजकवाद का इससे बड़ा सूत्र कुछ और हो सकता है?

आगे-आगे गैस के दो हंडे हैं, दो-तीन लालटेन भी हैं। संत बढ रहे

हैं। छोटा कद, दुर्वल शरीर, उसे चादर से लपेटे। उनके पैर जल्द-जल्द उठ रहे हैं। पीछे के लोगों को दौडना पड रहा है। नारे लग रहे है, सत रुकते है, कहते हैं, "नारे वन्द करो, विल्कुल मौन चलो। ब्राह्म-मुहूर्त है न, यह तो मनन-चिंतन की वेला है।" सव लोग चुप हैं, अव सिर्फ पैरो की आवाज हो रही है। सत का काफला आगे वढ रहा है, वढता जा रहा है।

वीच-वीच में गाव पडते हैं। कल सध्या को ही आते समय देख चुका हूं, रास्ते मे सभी गाव सजाए गए हैं। प्रत्येक के द्वार पर तोरण-वन्दनवार! अभी रात ही है, तो भी स्त्री-पुरुष, वच्चे-वूढे सभी कतार वाघ कर खडे है। रामधुन कर रहे हैं। नारे लगा रहे हैं। उन्हे पहले से समझा दिया गया है, पैर मत छूना, माला मत पहनाना। ललचाई आखो से सत के चरणो की ओर देखते हैं और वरवस उनके हाथ के फूल और मालाएं उछल पडती हैं। नारियो की श्रद्धा-भक्ति देखते ही वनती है! वच्चो के उत्साह का क्या कहना! जव काफला वढता है, आपस मे वाते होने लगती हैं। सत के साथ दो लडकिया हैं, कुछएक औरते फुसफुसाती हैं, सत तो वाल-ब्रह्मचारी हैं, किन्तु, दूसरी औरत कहती है, इससे क्या? क्या साधु-संत के वाल-वच्चे नही होते! इस सादगी पर किसकी हँसी नही छूटे!

धीरे-धीरे अन्धकार दूर होता जा रहा है। हम कितने गावो को पीछे छोड आए! आधी मजिल तय हो चुकी है। उस अन्धकार मे, उन धूल-धक्कड में कौन किसको पहचाने? किन्तु, अव एक-दूसरे के चेहरे देख सकते हैं, पहचान सकते हैं। एक भूमिहीन किसान आता है, मुझसे पूछ वैठता है—"मालिक, इत्त अपने नेता न हतन?" "हा, यह सव के नेता हैं।" किन्तु वह मेरे कथन की वारीकी पर कहा जाने वाला था! पूछ वैठा—"त जमीन कहिया तक मिलतई।" मुझे पिछले चुनाव का दृश्य याद आया। जव हम लोग कहते थे, "हम जमीन का फिर से वटवारा करेंगे", तो गरीवो की आखें चमकने लगती थीं। एक मुनहर को एक आदमी समझाने लगे—जमीन तुम्हें कहां से मिलेगी? क्या जमीन रवर है, जो लम्बी की जा सकती है? वीस वीघा, एक गाय।

यद सव सपना है, सपना ! वह मुसहर पढ़ा-लिखा नही था, किन्तु मूर्ख नही था, जैसा कि हम लोग हर ग्रामीण को मान लेते हैं। उसने कहा था—"ग्रो मालिक, वीस वीघा हम कहा मंगइछी ? वीसो घूर हमरा सभके हिस्सा मे पडतई की न ?" चुनाव में हम हार गए। उन्हे लगा था, अव जमीन नही मिली। उनकी ग्राश फिर जग गई है। वीसो घूर सिर्फ एक ही कट्ठा—उतनी जमीन भी उन्हे मिल जाय, जितनी मे उनका घर है, तो उनकी दासता की कड़ी कट जाय। हम गणितज्ञ उनकी मनोवृति को क्या जानें ? वही मनोवृत्ति है, जो उन्हे इस संत के पीछे-पीछे दौड़ा रही है। पाच-छः मील की दूरी में ही सफेदपोशो की भीड प्रायः छट चुकी है। वस, ग्रव ग्रधिकाश वे ही लोग सत के साथ रह गए हैं, जिन्हे जमीन चाहिए या जो उन्हे जमीन दिलाने को दृढप्रतिज्ञ हैं।

घडी कहती है—साढ़े छः वज चुके हैं। ग्रव संत के जलपान का समय ग्रा पहुंचा है। सत रुक जाते हैं। एक पात्र में दही दिया जाता है। एक-एक चमचा मुह में रखते है, गुलगुलाते हैं, कण्ठ के नीचे उतारते हैं। हम उनसे कह रहे है, "इस जिले में ग्रधिक जमीन नही मिलेगी, क्योकि जमीन कीमती है। यहा दस वीघे की जो कीमत होगी, हजारीवाग के हजारो वीघे की कीमत उतनी नही होगी।" सत मुस्कराते हैं—"जमीन का मोह तो समझ में ग्राता है, पर यह कीमत का क्या मोह ! कीमत माने रुपये न ? तो रुपये की भला कौनसी कीमत, जिसे न तो खाया जा सके, न पहना जा सके !" मुझे ग्रराजकवादी साहित्य की याद ग्राती है, प्रिंस कोपाटकिन, वाकूनिन। सभी शासन के दुश्मन, सिक्को के दुश्मन; शासन ग्रौर सिक्का—एक ही सिक्के के दो पहलू।

सूर्योदय होने के वाद संत चलते समय वातें भी करते जाते हैं। जिन लोगो को कुछ मसले पेश करने होते हैं, इसी समय पेश करते हैं। तरह-तरह के मसले पेश किए जा रहे हैं, दो-चार शव्दो मे ही उनका समाधान कर दिया जाता है। शव्दो में सूत्रका-सा चमत्कार ! वड़ी-वडी वातों को भी यों थोड़े शव्दो में सुलझा देते हैं कि ग्राश्चर्य होता है।

वीच में एक खादी-केन्द्र है। वहां थोड़ी देर ठहरते हैं। कुछ कत्तिनें चर्खा चला रही हैं। उनमें से कुछके शरीर पर मिल के कपड़े हैं। संत

कहते हैं—"तुम स्वयं खादी नही पहनती हो तो दूसरे लोग तुम्हारी खादी क्यो पहनेंगे ? अपने सौदे का आप अपमान करती हो ?" फिर लोगो से कहते हैं, "खादी ही पहनो। कहोगे, खादी महगी है। तो मैं कहता हूं, जितने पैसे खादी मे अधिक लगते है, उसे दान समझो। कपडे-के-कपडे मिले, दान का पुण्य भी मिला।" वात सीधी, अर्थ-शास्त्र की उलझन नही। इसी भाषा को ग्रामीण समझ सकते हैं। सत भारतीय जनता की नब्ज पहचानते हैं। उसे उसीकी भाषा मे समझाते हैं, इसी-लिए वह तुरन्त समझ भी जाती है, नही तो किसने आशा की थी, भूमि का इतने वडे पैमाने पर दान मिल सकेगा ?

यह धनौर गाव—धन का गाव है, वडे लोगो का गाव है, वडा गाव है ! यहा बड़े लोग आते ही रहते हैं, मिनिस्टर, नेता, साधू, सत, राजा, वावू। किन्तु, आज धनौर मे जो दृश्य है, जो उत्साह है, वैसा कभी देखा गया था ? भोर से ही इस गाव मे धूम मची है। कौन ऐसा दरवाजा है, जिस पर कुछ अतिथि नही हो ? वहुत वडा है मेरा थाना। यहा से मेरा घर सीधी राह से भी दस मील होगा, किन्तु मेरे गाव के वाद के गाव से भी लोग आए हैं और, सवसे प्रसन्नता की वात यह है कि सभी विचार के लोग आए हैं, बेदौल का जमुना भी आया है और जनाढ के झाजी भी। एक के सिर पर लाल टोपी, एक के सिर पर गाधी टोपी। मैं गद्-गद् हो उठता हूं—सत से कहा भी कि वावा, आपका सवसे वड़ा कमाल यह है कि आपने विछुडे लोगो को घसीट कर एक साथ खड़ा कर दिया है। आज मैं उस दरवाजे पर टिका हूं, जो दरवाजा पिछले चुनाव में मुझे हराने के लिए अड्डा वना हुआ था। मैं उन लोगो के साथ घूम रहा हूं, हस रहा हू, वाते कर रहा हू, जो मुझे देखकर ही कतराकर निकल जाना चाहते थे, या मैं ही जिन्हे देखकर आखे मोड लेता था।

अपनी उसी डायरी में ये पक्तिया पा रहा हू—"आपको गणित से प्रेम नही। मैं भी सफलता की माप गणित के अंको से नही करता। इसका उतना महत्व नही है कि मुझे कितने लाख एकड जमीन मिली। किन्तु इसके द्वारा लोगो को जो एक नया दृष्टिकोण मिल रहा है, उसका महत्व है। जव रामचरण नामक एक अन्धा रातोरात वैलगाड़ी पर

आकर अपनी कुल जमा पांच एकड जमीन दे जाता है, तो मैं समझता हूं, इस आदोलन ने लोगों के हृदय को जगाया है।"

यहा भी उन जगे हुए हृदयो की झलक पाता हूं। जानता हूं, इनमे कुछ लोग अपने नेतृत्व के लिए भी दौड-धूप कर रहे हैं, कुछ अपने महत्व के लिए ढोग भी कर रहे है। किन्तु मै उन लोगो में नही, जो मानव-मन को सदा दूषित ही समझते है। कभी-कभी तो यहांतक पाया है, ढोग से ही कोई काम प्रारम्भ किया गया, किन्तु उस काम की पवित्रता ने ढोंग को जला दिया, वह व्यक्ति थोडे ही दिनो मे कुन्दन वन गया !

झुड-के-झुड लोग आ रहे हैं। चारों ओर नर-मुण्ड-ही-नर-मुण्ड दिखाई पड़ रहे हैं। १९३१ के वाद लोगो में, साधारणजनो में, ऐसा उत्साह नही दिखाई पड़ा था। वीच में जो चीजें आईं वे ऊपर की तरंगें थी, उनमें जोर था, उफान था; किन्तु यह गहराई में की हलचल है, जो मर्म को आलोडित करती है। एक विचित्र वात देख रहा हूं, जो लोग १९२१ में शामिल हुए थे, किन्तु कारणवश घरो में वैठ गए थे, उनसे भी भेंट हो रही है। उसकी आखे कहती हैं, वत्तीस साल वाद फिर कुछ होने जा रहा है क्या ?

संध्या को तीन वजे संत के प्रवचन के लिए सभा हो रही है। दूर-दूर से लोग आ रहे हैं, किन्तु, संत समय के पावन्द हैं, निश्चित समय पर ही कार्यारम्भ हो जायगा। प्रार्थना के कुछ पद गाए गए, श्लोक पढे गए, फिर रामधुन हुई। "रघुपति राघव राजा राम"—यह गाधीजी की राम-धुन की टेक थी। संत ने उसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया है। मेरा मन कहता है, गांधीजी की टेक ही जारी रखी गई होती तो क्या अच्छा होता ! किन्तु तुलसीदास की वह पक्ति याद आ जाती है, जिसमें लक्ष्मण सदा राम-सीता के पद-चिन्हों को वचाकर ही पैर रखते है।

संत की प्रवचन-मुद्रा भी गाधीजी से कुछ भिन्न है। वह पलथी मार कर वैठ जाते हैं, पहले एक-दो वार खांस कर अपने कण्ठ को साफ कर लेते हैं, फिर वोलना प्रारम्भ कर देते है। जब किसी वात पर जोर देना होता है, पलथी पर दोनों हथेलियो को पटकते है। हथेलियो के पटकने का शब्द भी लाउडस्पीकर से सुनाई पड़ता है।

संत की भापा भी वड़ी विशुद्ध है। हिन्दी का व्याकरण जटिल है, सत की मातृभापा मराठी है, तो भी पूरे प्रवचन मे दो-तीन से अधिक व्याकरण की अशुद्धियां नही देखी गईं—वे भी वारीक भूलें। ऐसी भूलें तो हिन्दी के विद्वानो से भी हो जाती हैं।

फिर संत की विवेचन-प्रणाली शास्त्रीय होती है। हृदय और मस्तिष्क का अद्भुत सतुलन रहता है वहा।

पाकिस्तान और अमेरिका के सैनिक सुलहनामे को लेकर वड़ी खलवली मची है। उसीको आधार वनाकर सत ने प्रारम्भ किया। पाकिस्तान ने क्यो ममभौता किया ? क्योकि वह अपनेको कमजोर समभता है। हम क्या करें ? क्या हम भी किसी वडे राष्ट्र से मदद ले ? यह तो गुलामी को फिर से निमत्रण देना होगा। क्या हम सैनिक शक्ति वढाए ? तो फिर निर्माण का काम वद कर देना होगा। जो आज भी घनहीन हैं, उन्हे और गरीव वनाना होगा। तो किया क्या जाय ? देश को मजवूत वनाओ। देश की मजवूती सेना से नही प्रकट होती, जनता की एकता से, ताकत से प्रकट होती है। जिस देश मे धनी और गरीव में इतना भेद हो, जिस देश में आदमी-आदमी को अछूत समभे, जिस देश मे नारियो को कैद में रखा जाय, वह देश मजवूत हो नही सकता। इन भेदभावो को दूर करो, इस विपमता को दूर करो, इस अन्याय को दूर करो।

संत के प्रवचन का यह सार था। उन्होंने कहा—इस समभौते को मैं भगवान् का वरदान समभता हूं। हम धीरे-धीरे काम कर रहे थे। उन्होने हमें चेतावनी दी है—जल्दी करो।

फिर अपने भूदान-यज्ञ का महत्व विस्तार से वताया। पृथ्वी माता है। जो लोग अपनेको भूमिपति मानते हैं, वे नही समभते हैं कि वे कौन-सी गाली अपनेको दे रहे हैं। पृथ्वी के मालिक तो भगवान् हैं—"सवै भूमि गोपाल की।" भगवान की चीज पर भगवान के सभी वेटे-वेटियो का वरावर हक है। आप उसे उसका हक दीजिए, खुशी से दीजिए, इसीमे आपका वड़प्पन है, देश का कल्याण है।

जव मैं प्रवचन-सभा मे जा रहा था, कुछ लडके कम्युनिस्टो का एक

पर्चा बांट रहे थे। उन लोगों ने संत से कुछ प्रश्न पूछे थे। संत ने उन्हे जवाव दिया—"वार-वार एक ही ढंग के प्रश्न ये लोग मुझसे पूछते हैं। शिव के गणो के बारे में कहा जाता है, वे भोले-भाले होते हैं; किन्तु मै समझता हूं, दो-चार वार समझा देने पर वे भी समझ जाते होगे। ये लोग तो 'शिव के गण' से भी गए-वीते प्रतीत होते हैं!"

संत लगभग डेढ घटे तक वोलते रहे। मै श्रोताओ के मुंह की ओर देख रहा था। लगता था, वे एक-एक शब्द पीने की चेष्टा कर रहे हैं। जाड़े का दिन, सूरज डूवने जा रहा था, हवा सिसक कर गरीवो के कलेजे को कंपाने की चेष्टा कर रही थी। तो भी वे डटे हुए थे। उनकी आखे मच पर वैठी उसी मूर्ति पर अडी थी, जिससे एक ज्योति निकल कर उनके मन-प्राण को जुडा रही थी। प्रवचन समाप्त हुआ, सभा विसर्जित हुई, तो भी बहुत-से लोग उस पडाव के आसपास चक्कर लगा रहे थे, जैसे वे किसी डोर से वध गए हो, जो चेष्टा करने पर भी टूट नही पाती थी।

संत विनोवा प्राय. सध्या को कार्यकर्त्ताओ की वैठक कराते हैं। उस समय किए गए काम का लेखा-जोखा लेते हैं, कार्यकर्त्ताओ की शंकाओ का निवारण करते हैं और भविष्य के कार्य की रूपरेखा तैयार करते हैं। अभी मै संत विनोवा पर लिखी गई एक पुस्तक को पढ़ रहा था। उनके एक वाल-साथी ने वताया है, विनोवा को गणित से कैसा अनुराग था। काम का लेखा-जोखा लेते समय मानो उनकी वह गणित-वुद्धि जाग्रत हो जाती है। उन्हे गलत आंकड़े वताकर धोखा नही दिया जा सकता। आगे के कार्यक्रम मे भी गणित का उनका यह स्नेह जागरित रहता है। किन्तु दर-असल उनकी वुद्धि का, दार्शनिक ऊंचाई का, किसी चीज की तह तक पैठ कर देखने वाली दृष्टि का, चमत्कार तो तव जानने को मिलता है, जव कार्यकर्त्ताओं की शंकाओ के निवारण मे वह वोलने लगते हैं।

संध्या को जव वैठक हुई, उन्होने ताड़ लिया, यहां भूदान का कार्य दलगत दृष्टि से किया जा रहा है। काग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी दोनों के कार्यकर्त्ताओं से उन्होने कहा कि दिल खोलकर वातें करो कि तुम लोग साथ मिलकर क्यों नही काम करते हो? मै तो डाक्टर हूं, यदि मुझसे

वीमारी छिपाओगे, तो आराम कैसे होगा। दोनो ने अपनी-अपनी वातें रखीं, दिल खोलकर रखी, साफ-साफ रखी। कांग्रेसवालो ने कहा, "आप निश्चिन्त रहे, हम लोग अपने थाने का कोटा पूरा कर देंगे। सोशलिस्टों द्वारा आज ही कितनी जमीन मिली है, कुछ ही वीघे तो! सोशलिस्टो ने कहा, "भूदान में हमारे सभी साथियो की एक-सी आस्था भी नही है, फिर भी काम कर रहे हैं। हमारे साथ गरीब हैं, उनके पास जमीन ही कितनी है! योही कांग्रेसवालो ने कहा, "देखिए, ये लोग कितने झंडे ले आए हैं, जैसे इन्हीकी सभा हो।" तो सोशलिस्टो ने कहा, "इन्होंने सारे पोस्टरो पर थाना-कांग्रेस-कमिटी का नाम छपवा दिया है, जैसे आप इन्हीके हो।" हा, वातें खुलकर हुई, साफ-साफ हुई।

संत थोड़ी देर चुप रहे, फिर वोले, जैसे दिल खोल दिया हो। उन्होने वताया, यह देश का दुर्भाग्य है कि कोई शुभ कार्य भी आप लोग मिलकर नही कर सकते। जव कभी मिलने की कोई चेप्टा की जाती है, उसमें विघ्न डाला जाता है। उन्होने नेहरू-जयप्रकाश-वार्ता की चर्चा की और वताया किस तरह दोनो दलो के कुछ लोगो ने उसका विरोध किया। फिर दान की छुटाई-वढाई की चर्चा करते हुए वोले, "मेरे पास कोई क्षमता नहीं कि किसीको कोई सर्टिफिकेट दू। दान में दाता का हृदय देखा जाता है, न कि दान की वस्तु का मूल्य। सुदामा के तदुल का क्या मूल्य था? किन्तु कृष्ण ने उसे जिस प्रेम से खाया, क्या किसी राजा के व्यजनो को उस प्रेम से खाया होगा। ईसा की कहानी भी ऐसी ही है। एक विधवा ने दिनभर चर्खा कातकर जो दो पैसे पाए थे, जव उन्हे ईसा को दिया, तो ईसा ने कहा था, 'इसमे वड़ा दान मुझे जीवन भर नही मिला।' अपने काम पर अभिमान मत आने दो, अभिमान का नाश होकर रहता है। इसीसे मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हू, मुझसे इतना वड़ा काम मत करवाओ कि मुझमे अभिमान आ जाय, इससे तो छोटी सेवा ही भली।" अंत मे सत का हृदय तिलमिला उठा। उन्होने कहा, "तुम लोग अपनी डायरी मे लिख लो, यदि तुममें यही मनोवृत्ति रही, यदि मिलजुल कर सेवा करने की वृत्ति नही वढी, तो इस देश मे गुलामी का इतिहास फिर दुहर कर रहेगा।"

जव यह वैठक समाप्त हुई, दोनो दलो के कार्यकर्त्ताओ में एक अद्भुत हृदय-मथन चल रहा था। दोनो दलो के लोगो से मुझे वातें करने का मौका मिला। लगा, सत के कथन ने उनके हृदय को छू लिया है, वहा से कालिमा कुछ हटी है। काश, यही भावना स्थायी हो पाती।

संत इस भूदान के साथ ही एक निर्मल विचार के वीज वोते चल रहे हैं। वह विचार यह है कि देश के निर्माण के लिए लोग दलो को भूल जायं, सव मिलकर काम करे और अन्त मे वह दिन आए कि राजनीति में भी दलो की खीचतान न रह जाय। जो जनसेवी हो,सच्चे हो, निस्स्वार्थ हो, वे ही लोग चुने जाय, उन्हीकी सरकार वने। जनतंत्र मे दलवंदी की जो भावना जन्मजात है, वह दूर हो जाय। तभी वह सच्चा जनतंत्र होगा। हम लोग इस तरह की वात सुनने के आदी नही रहे हैं। हमें वताया गया है कि जनतंत्र के साथ दलवंदी आवश्यक है, इतिहास भी यही वताता है। अतः यह वात हमारे हृदयो मे उतरती नही है, मस्तिष्क उसे वाहर फेक देता है। किन्तु आज जनतंत्र जहा जा रहा है, लोगो को एक दिन सोचने को मजबूर होना पड़ेगा। नए विचार, नई परिस्थिति की ही पैदावार होते हैं। विचारक तो उसे भापामात्र देता है।

इधर पैदल चलना एकदम छूट गया था। दिन-भर थकावट के मारे चूर रहा, शाम को हल्का वुखार-सा हो आया। सोचता था, कल पैदल नही चल सकूगा। किन्तु संध्या को, इस वैठक के वाद, जव संत के निकट गया, एक भाई ने पूछ दिया—'कल भी पैदल-यात्रा होगी है न, तव मुझसे "नही" नही कहा गया।

दूसरे दिन फिर चार वजे भोर में उठा और सत के काफिले के पीछे आ गया। इच्छा-शक्ति कितनी प्रवल होती है। शरीर-शक्ति पर वह किस तरह हावी हो जाती है, नही तो कल शाम को वुखार का अनुभव कर रहा था, आज इस भोर में दौड़ा चल रहा हू।

आज अंगरेजी साल की पहली तारीख थी। जव सूर्योदय हो रहा था, संत रुक गए। नए साल का यह नया सूरज। कितना सुन्दर समां! हम खेतो के वीच होकर गुजर रहे थे। खेतो मे सरसो फूल रही थी, गेहू

मटर, खेसारी की हरियाली कैसी मनोहारिणी थी! दूर पर ईख का खेत था। उस खेत से ऊपर, पूरवी क्षितिज पर सूरज का लाल गोला। वह धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। हल्के सफेद कुहासे को छेदकर उसकी सुनहरी किरणें बिखर रही थी। ओस के कण-कण चमचम कर रहे थे। सत पूरव मुख खडे हो गए और सूर्य देवता को निर्निमेप दृष्टि मे देखते हुए वैदिक मत्रो से स्तुति करने लगे। सत का मुखमडल उद्दीप्त हो रहा था। सभी लोग, संत से कुछ अलग, कतार बाधकर खडे थे। झंडा लहरा रहे थे, भोर की हवा उन्हे दुलरा रही थी, हलरा रही थी। बिलकुल शाति! सबका ध्यान या तो उन सूरज के लाल गोले पर या संत के चेहरे पर। बेटी कुसुम ने मेरे कानो मे फुसफुसाकर कहा, "इसपर कोई कविता लिख डालिए।" मुझे वेद का वह वाक्य याद आ गया—"पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति।" देवता के काव्य को देखो, जो न मरता है, न पुराना होता है। हा, यह सूरज—कितने दिनो से उगता आ रहा है, किन्तु आज भी कितना नवीन, कितना जीवत दिखाई पड़ रहा है। यह देवता का काव्य है न? इस काव्य के समुख ससार का सारा काव्य फीका है।

सत की स्तुति समाप्त होती है, वह दही का जलपान करते हैं, चल पड़ते है। मै भी चल रहा हू, किन्तु बार-बार सोचता हू, नए वर्ष का यह सूरज क्या सचमुच एक नए युग के आगमन की सूचना दे रहा है—उस युग की जब अधकार नही होगा, जब कहासा फटेगा, जब चारो ओर हरियाली होगी, रगीनी होगी, सारी दुनिया इन ओसकणो की तरह जगमग, झलमल कर उठेगी।

गाव-गाव में स्वागत हो रहा है। बीच के एक गाव मे एक पुस्तकालय का उद्घाटन सत द्वारा किया जा रहा है। नामो की एक सूची पढी जाती है। उस सूची को लेकर कुछ हलचल मचती है। अरे, मानव-मन इतना चचल है! साझ की बात भोर मे ही भुला दी गई। क्या निराश हुआ जाय? क्या हताश हुआ जाय? नही, पुराना मैल धीरे-धीरे घुलेगा? घुल कर रहेगा, नही तो इतनी जल्द यह हलचल शात क्यो हो गई? छोटी बातो को भी एक क्षण मे विशाल रूप धरते क्या

नही देख चुका हुं। यहां तो एक हल्की-सी तरंग उठी और फिर आप ही शांत हो गई। क्या यह शुभ दिन की सूचना नही है ?

हम दूसरे पड़ाव पर आ पहुंचे। पड़ाव पर पहुचकर संत का एक संक्षिप्त प्रवचन होता है। आज भी हुआ। संत ने एक बड़ी मार्मिक बात कही। तरह-तरह के झंडे थे। संत ने कहा—"इन झंडो के विविध रंगों को देखकर उदास मत होओ। झंडे तो अलग-अलग हैं, किन्तु उन्हे एक हवा लहरा रही है। अनेकता मे भी एकता का बोध होता है, यदि उसमें समरसता हो। अनेक स्वरों से ही तो संगीत सधता है।" मुझे स्वामी रामतीर्थ का वह शेर याद हो आया—

अलग हम सबसे रहते हैं मिसाले तार तंबूरा,
जरा छेड़े से मिलते हैं मिला ले जिसका जी चाहे !

हा, कमी है चतुर उंगलियों की, जो अलग-अलग बधे तारो को छेड़कर उनसे संगीत की सृष्टि कर दे। हममें अधिकाश लोगों की उंगलिया या तो एकतारे पर सधी हैं या उनमे वह कठोरता है कि इन तारो को तोड़ ही देती हैं। इसलिए आज संसार मे झंकार के बदले हाहाकार ही छाया हुआ है।

थका हुआ हूं, लेटने की इच्छा हो रही है। साथी कहते हैं—हम लोगों के लिए कमरे नही हैं। मैं कहता हूं—अरे, संत ने कहा है न 'सबै भूमि गोपाल की'। छोड़ो कमरे को, चलो मैदान के उस छोर पर। जाड़ा है, धूप में भी मजा आयगा। एक साथी ने कंबल डाल दिया, मैं लेट गया हूं। कानो में समवेत स्वर आ रहा है...

सुरम्य शान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो।
नवीन क्रान्ति के लिए जमीन दो, जमीन दो।

आंखें झप रही हैं। जब खुलती हैं, पाता हूं, झडे गड़ गए हैं, हंडे चढ़ चुके हैं। किन्तु यह क्या ? बगल मे पंढरीजी बैठे हैं, वह कहते हैं—आप लोग यहां अलग क्यो हैं ? मैं अपनी वही टेक दुहरा जाता हूं... 'सबै भूमि गोपाल की।' वह कहते हैं—नही, इससे अलगाव का बोध होता है। मेरे साथी उन्हे बता रहे हैं—हमे कमरे नही दिए गए। मैं कहता हूं—तो क्या हुआ ? ये झंडे और हंडे वही चलें, जहा पंढरीजा

वता रहे हैं। झंडे अलग-अलग हैं; किन्तु हवा तो एक है। यदि इन्हें एक जमीन भी मिल जाय तो क्या कहने! वही होता है। अब सभी झंडे एक ही आंगन में गढे हैं, एक ही हवा में लहरा रहे हैं।

काश, हमारा दिल भी इसी तरह एक हो जाता!

: ९ :

कथा के ये जादूगर !

सामरसेट माम से एक वार एक प्रकागक ने पूछा, "आपकी सम्मति मे संसार के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यास और उपन्यासकार कौन हैं ?" माम ने ये दस नाम दिए—

१. वार ऐंड पीस	—लियो टॉल्स्टाय
२. ओल्डमैन गारियो	—ओनेरे वालजाक
३. टाम जोन्स	—हेनरी फील्डिंग
४. प्राइड ऐंड प्रज्युडिस	—जेन आस्टिन
५. रेड ऐंड व्लैक	—स्तेंवल
६. वूदरिंग हाइट्स	—एमिली व्रोंटे
७. मदाम वावरी	—गुस्ताफ फ्लावर्त
८. डेविड कॉपरफील्ड	—चार्ल्स डिकेंस
९. व्रदर्स करमाज़ोफ	—फियोडोर दास्ताएव्स्की
१०. मोवी डिक	—हरमैन मेलविले

माम का कहना है कि उसकी समझ में संसार का सवसे वड़ा उपन्यासकार वालजाक है, किन्तु सवसे वडा उपन्यास है टॉल्स्टाय का 'वार ऐंड पीस'। इसमे पांच सौ पात्र है और मुख्य पात्र जीवन से लिये गए हैं। अपने पितामह, पिता, माता और कितने ही परिचितो को टॉल्स्टाय ने उस उपन्यास का पात्र वनाया है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को दो हिस्सों मे वांटकर इसके दो प्रवान नायक वनाया। नटाशा इसकी मुख्य नायिका है और माम का कहना है, इससे अधिक मनोरंजक नारी उपन्यास-संसार मे कभी गढ़ी नही गई।

टॉल्स्टाय के जीवन पर वड़ी कड़ी निगाह डाली गई है—वह शरावी थे, जुआड़ी थे, अत्यन्त कामुक थे। देखने में कुरूप, किन्तु वड़े साहसी, वलवान—दिनभर पैदल चल सकते थे, वारह घंटे घोड़े की

पीठ पर सवारी कर सकते थे। अपनी कुरूपता पर एक जगह उन्होंने स्वयं लिखा है—"मैं प्राय. ही उदास हो जाता हूं। मेरी समझ मे आनन्द उसकी तकदीर में नही लिखा है, जिसकी नाक ऐसी चपटी हो, होठ इतने मोटे हो और आखें इतनी छोटी और भूरी हो।" वह घमडी थे—किसीके नमस्कार का भी उत्तर नही देते थे, अपनी पुस्तको की आलोचना को बर्दाश्त नही कर पाते थे, बडे चिडचिडे थे, बात-बात पर लड़ने को तैयार रहते थे।

बडे घर के बेटे थे। नौजवानी मे रगरेलिया की। फौज में काम किया—एक तो गिलोय, दूसरे, चढी नीम पर। फिर शादी की। बीबी का बदन सुडौल था, आखें सुन्दर, बाल मुलायम, बोली मधुर। किन्तु वह भावुक थी, अत. कभी-कभी ठन जाती। उसके अक्षर सुन्दर थे—टॉल्स्टाय की रचनाओं की प्रतिलिपि वही तैयार करती थी। 'वार ऐंड पीस' की सात बार उसने प्रतिलिपि तैयार की थी। टॉल्स्टाय प्रतिदिन आठ-दस घण्टे जरूर लिखते थे। हा, उनके अक्षर बहुत खराब थे।

उनका प्रारम्भिक पारिवारिक जीवन बडा आनंदपूर्ण रहा। पत्नी बच्चे-पर-बच्चे दिए जाती, उनकी देखभाल करती, अपने पति को लिखने-पढने मे सहायता करती। इधर टॉल्स्टाय लिखते-पढते, घुड-सवारी करते, शिकार खेलते और अपनी जमींदारी का काम-धाम सभालते हुए पचासवें वर्ष के आस-पास पहुचे।

माम उनकी उम्र के इस हिस्से के बारे मे लिखता है—

"वह पचासवे वर्ष के निकट पहुच रहा था। यह अवस्था आदमी के जीवन में बडी खतरनाक होती है। जवानी बीत गई होती है। पीछे देखने पर यह लेखा-जोखा सामने आता है कि हमने क्या किया तथा सामने देखने पर बुढापे का स्मरण-मात्र ही कंपा डालता है।"

टॉल्स्टाय के जीवन मे इसके बाद ही परिवर्तन होता है। वह एक नए जीवन, नए धर्म के मसीहा बन जाते हैं। संसार के कोने-कोने में उनकी कीर्ति फैल जाती है। 'पैसिव रेजिस्टेंस' के नाम से बुराई से लडने का वे एक नया तरीका निकालते हैं। इसका ही भारतीय रूप सत्याग्रह है। गाधीजी ने स्वयं लिखा है कि टॉल्स्टाय की इस अनोखी

जीवन-पद्धति ने उन्हे सबसे अधिक प्रभावित किया।

इसके बाद ही उनमें और उनके परिवार में एक अजीव द्वंद्व मचता है। टॉल्स्टाय धन को पाप मानकर उसका त्याग करने पर तुले हैं, किन्तु उनकी पत्नी बेचारी क्या करे, घर कैसे चलाए ! चेरत्कोव नामक उनके एक प्रशसक ने इस आग में घी का काम किया—उसके चलते घरेलू बाते विगड़ती ही गईं। अन्त में, उन्हे घर छोड़कर चल देना पड़ा। उस समय उसकी उम्र बयासी की थी। रात की यात्रा, सर्दी लग गई। घर से स्टेशन, वहां से फिर रेल-यात्रा, फलस्वरूप बुखार से पीड़ित होकर रास्ते में ही एक अपरिचित स्टेशन पर उन्हे उतरना पड़ा और वही उनकी मृत्यु हो गई।

टॉल्स्टाय रूसी थे और बालजाक फ्रांसीसी। कहानी-कला में आज भी ये दोनों देश संसार में शीर्षस्थान रखते हैं।

बालजाक में विलक्षण प्रतिभा थी। उपजाऊपन लेखक का विशिष्ट गुण है और उसे यह गुण पूरा-पूरा मिला था। उसकी दृष्टि बडी पैनी थी, उसके आविष्कार महान् थे और जितने प्रकार के पात्र उसने पैदा किये, वे तो अपूर्व हैं ही—न भूतो, न भविष्यति। वह मानो प्रकृति की एक अदम्य शक्ति था—एक ऐसी नदी, जो घहराती, कगारो को ढहाती और हर चीज को वहाती चलती है—एक ऐसी आंधी, जो गांवों को झकझोरती और शहरो को चर्रमर्र करती वढती जाती है। स्वभाव में वचपना, हृदय से उदार और दयालु। वकील बाप ने चाहा, बेटा वकील बने, पर वह लेखक बनना चाहता था। पहली पुस्तक पढ़कर लोगो ने कहा—"तुम लिख नही सकते, यह पेशा छोड़ो।" किन्तु वह लिखता गया, लिखता गया। चार वर्षो में पचास पुस्तकें लिख डाली—ऐतिहासिक उपन्यास। इसी समय एक स्त्री से वह प्रेम करने लगा। वह स्त्री उससे पन्द्रह वर्ष वडी थी—एक ही साथ पत्नी-प्रेम और मातृ-प्रेम ! उसी स्त्री ने रुपये दिए और प्रकाशन का काम शुरू हुआ। किन्तु बालजाक-जैसे उदार आदमी (उदार क्यों, हद दर्जे का फिजूलखर्च) से व्यापार क्या चले ? तीन साल मे ही रोजगार में दिवाला पिट गया।

अव वह तीस साल का था—दुनिया का काफी अनुभव पाया हुआ।

उसने गम्भीरता से लिखना शुरू किया और लोगों को उसकी प्रतिभा की धाक स्वीकार करनी पडी। इसके बाद इक्कीस वर्षो तक, जबतक वह जीवित रहा, लिखता गया। हर साल एक-दो बड़े उपन्यास और एक दर्जन छोटे उपन्यास या कहानिया। कुछ नाटक भी लिखे और कुछ दिनो तक अपना एक अखबार भी निकाला।

वह नोट लेने मे बडा ही कुशल था। जहा कुछ खास चीज देखी, झट नोट कर ली। अपने उपन्यासो के स्थानो की यात्रा करने में उसने कभी सकोच नही किया। वहा की छोटी-छोटी चीजो को भी नोट कर लेता था।

वह ज्यादातर रात मे लिखता था। सवेरे खाकर सोने चला जाता। उसका नौकर उसे एक बजे जगा देता। तब वह खूब साफ, उजले वस्त्र पहनकर लिखने बैठता। वह कहा करता था, "जब कपडे पर धब्बे होते हैं, तब कागज पर भी धब्बे ही उतरते हैं।" काफी की प्यालियों-पर-प्यालियां चल रही हैं और वह चील के पर की कलम से लिखता चला जाता है। सात बजे लिखना बद कर स्नान करता और सो जाता। नौ बजे प्रकाशक आते, प्रूफ लिये और नई कापी मागने। तब वह दोपहर तक प्रूफ मे लगा रहता। प्रूफ क्या होता—वह नए शब्द, नए वाक्य ही नही, नए पैरे और पृष्ठ भी जोडने में संकोच न करता। दिन मे कुछ अंडे खाकर और पानी पीकर वह फिर काम में लगता और उसे छः बजे समाप्त कर देता।

ज्योंही वह सफल लेखक हुआ, एक बड़े मकान मे रहने लगा। उन मकान को उसने खूब सजाया। एक फिटिन खरीदी, उसके लिए घोडे खरीदे। कोचवान रखा, रसोइया और नौकर रखे। नौकरो को खूब सजा कर रखता—वर्दी-पट्टे से लैस। अपने नाम के आगे बडप्पन सूचक 'द' लगाना भी उसने शुरू कर दिया। फर्नीचर, मूर्तिया, तस्वीरे और गहने खरीदने में कभी कोताही नही की। खाने-पीने मे भी शौकीनी की हद नही रखी।

नतीजा यह हुआ कि प्राय. वह कर्ज मे रहता और कई बार उसका

सामान भी नीलाम हुआ। किसीसे—औरतो से भी—कर्ज मागने में उसे संकोच न होता।

प्रेम भी उसने खुलकर किया और कभी-कभी तो 'दूर की कौड़ी हाकने' मे भी कमी नही की। तभी एक रूसी संभ्रात महिला उससे प्रेम करने लगी। यह विचित्र वात है कि उसका प्रेम प्राय. पत्र-व्यवहार से ही शुरू होता। इस रूसी महिला से शादी करने के वाद ही उसकी मृत्यु हो गई। यो कहिए कि मृत्यु-शय्या पर ही शादी हुई। संक्षेप में, वालजाक को जहा साहित्य में सफलता मिली, जीवन मे वह असफलता-ही-असफलता का शिकार हुआ।

'ओल्डमैन गारियो' शुरू से आखिर तक मनोरंजक है, फिजूल की बहक से रहित। इसका मुख्य स्थान एक मामूली बोर्डिंग हाउस है। बूढ़े पिता का प्रेम और अकृतज्ञ वेटी की उपेक्षा का अजीव चित्रण इस उपन्यास मे किया गया है। साथ ही, उस समय की पेरिस के भ्रष्टाचार का भी दिग्दर्शन है।

माम ने शेष आठ उपन्यासकारों के जीवन और उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियो पर भी वडा ही मनोरंजक प्रकाश डाला है। इन उपन्यासकारों में क्या विशेषताएं थी, जो उन्हे ऐसे महान कलाकार वना सकी, इस प्रश्न का उत्तर माम यो देता है—

"इन सवमें सवसे वड़ी विशेषता थी, इनकी क्रियात्मक प्रवृत्ति। ये इतने वड़े लेखक इसलिए वने कि इनके भीतर ऐसी प्रेरणा थी, जो इन्हे लिखने को मजवूर करती थी। क्रियात्मक प्रवृत्ति के साथ ही इनमें व्यक्तित्व का विकास हुआ था, जिसे लोग 'सनकीपन' या 'झक्कीपन' कहते है—वही, जो आदमी को दूसरों की अपेक्षा अलग ढंग से देखने को प्रेरित करता है। यह विशेष तत्व वुरा लगे या भला, किन्तु इन्हीके चलते वह ऐसी चीजे आपके सामने रख पाता है, जिसे आप अद्भुत कहते और जिससे चकित और विस्मित होते रहे हैं। इन व्यक्तियो में लिखने के लिए अजीव प्रेरणा थी। ये लिखते थे और लिखते ही जाते थे। लिखना आसान नही है और अच्छा लिखना तो और भी मुश्किल है। यों कहा जा सकता है कि कोई आदमी वैसा नही लिख पाता जैसा

कि वह लिखना चाहता है। टॉल्स्टाय और वालजाक लिखते थे, काटते थे, फिर लिखते थे, फिर काटते थे। लिखने की प्रवृत्ति इन लोगो में वैसी ही थी, जैसी भूख या प्यास की प्रवृत्ति ।

"इनमे से कोई भी वहुत पढा-लिखा नही था। और, लिखने की कला छोडकर किसी दूसरी कला से इनका वैसा अनुराग भी नही था। ये वहुत मेधावी भी नही थे, पर इसका मतलव यह नही कि ये मूर्ख थे। इनमें विचार के लिए वैसी रुचि नही थी, जैसी उदाहरण के लिए। विचार की कमी की पूर्ति इनमें भावना द्वारा हुई थी। इनकी भावना वडी प्रखर थी—इनमें कल्पना थी, गहरी सूझ-वूझ थी, परख थी और सवसे वढकर इनमें यह योग्यता थी कि जिसे देखा, अनुभव किया या जिसकी कल्पना की, उसे मूर्त्तरूप दे सके। एक दृष्टि से देखिए, तो ये सव-के-सव स्वाभाविक मानव से भिन्न दिखाई पडते थे।

"यह सोचना वेवकूफी से भरा है कि कलाकार को सासारिक सुख के प्रति विरक्ति होती है। ऐसी वात नही है। उसके स्वभाव में तरलता होती है, जो अपने लिए जगह चाहती है। आराम-चैन उसे वहुत पसद है। मौज से रहना उसे वहुत भाता है। इन लेखको को देखिए—किसी को कपडा पसद, किसीको शिकार, किसीको घर, किसीको सवारी। इनमे से किसीमें सन्यास-वृत्ति नही थी। सव मजे में रहना चाहते थे। उन्हे पैसा चाहिए था—जमा करने के लिए नही, उडाने के लिए, दोनो हाथो से उडाने के लिए। वे किसी भी जरिए से रुपया पाना चाहते थे और किसीके लिए अपनी झोली खाली कर देते थे। वातचीत में पटु तथा सगति मे रसिक थे और जो उनके निकट गया, उसे विना प्रभावित किए नही छोडा।"

: १० :

दीवाली फिर आगई सजनी !

१९४२ । दीवाली । सध्या ७॥ बजे ।

विहार का हजारीवाग सेंट्रल जेल ।

जेल के भीतर—

लगभग दो दर्जन राजवदी दीवाली मना रहे हैं ।

वीच मे एक खूबसूरत किशोर हाथ में थाल लिये । थाल में बयालीस दीपक जगमग कर रहे हैं । वह वड़ी शान से थाल को नचाता हुआ गाता है—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी ।"

बीस-पच्चीस नौजवान उसे घेरे हुए । कोई थाली पीट रहा, कोई बाल्टी वजा रहा, कोई लोटा टनटना रहा और वीच के उस किशोर के स्वर का अनुगमन करते हुए सभी गा रहे—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी ।"

ढाई सौ राजवंदी हैं यहा । प्रदेश के चीफ मिनिस्टर हैं, मिनिस्टर हैं, स्पीकर हैं, चेयरमैन हैं; विधायक हैं, विधाता हैं; नेता हैं, कार्यकर्ता हैं । कांग्रेस है, सोशलिस्ट हैं, फारवर्ड ब्लोकिस्ट हैं, कम्युनिस्ट हैं । सभी इस अनुपम दीवाली-उत्सव को देख रहे हैं, हँस रहे हैं, तालियां पीट रहे हैं । बहुत-से लोग धीरे-धीरे इस उत्सव मे शामिल होते जा रहे हैं ।

रंग जमता जा रहा है, झुड बढता जा रहा है ।

जेलर देख रहे है, नायब जेलर देख रहे हैं । जमादार साहब तो इतने भावावेश मे आ जाते हैं कि तालियो का गुच्छा झनझनाते हुए वह भी गाने लगते हैं—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी ।"

और उधर, जेल के उस निभृत कोने की दीवार के नीचे, जहा जामुन के लम्बे पेड़ की छाया दीवार पर गिरती है, दो आदमी एक

टेबुल लाकर रख देते हैं।

उनमें से एक टेबुल पर चढकर दीवार को पकड़ता है, दूसरा उछल कर उसके कंधे पर चढ जाता है।

तबतक चार आदमी और वहा जाते हैं। उनमें से एक पहले आदमी की कमर पर लात रखता हुआ दूसरे की कमर को पकड़कर उसके कंधे पर चढ जाता है।

वह कधे पर खड़ा होता है। अब दीवार का ऊपरी छोर उसकी पहुंच में है। इधर-उधर देखता है, फिर कंधे से दीवार पर जाकर अपने-को दीवार के उस पार खिसका देता है।

सर-सर-सर-सर ! छाती मे कुछ रगड, ठुड्डी में कुछ खरोंच। अब वह दीवार के उस पार जमीन पर खडा है।

इधर-उधर चौकन्ना देखता है, कोई नही। वह लेट जाता है।

उसकी कमर में कपडे को लिपटाकर वधा हुआ एक रस्सा है। इस कपड़े के रस्से का एक छोर दीवार के उस पार जेल के अन्दर है।

यह रस्सा अब कमंद का काम कर रहा है।

इस कमद के सहारे दूसरा आदमी भी दीवार के उस पार गया।

तीसरा गया।

चौथा गया।

पाचवां गया।

छठा गया।

छ कैदी जेल की दीवार पार कर बाहर निकल चुके हैं, सिर्फ छ मिनट में।

हा, सिर्फ छ मिनट में।

आज दो महीने से एक सैल में इसी प्रकार टेबुल लगाकर, उस पर आदमी-पर-आदमी खडा कर, फिर कमद के सहारे चढ-उतरकर, वे लोग अभ्यास कर रहे थे।

पाच से सात मिनट के अन्दर काम पूरा कर लिया जा सकता है।

इन्होने छ· मिनट मे समाप्त कर दिया।

जिस जेल को अग्रेजी सरकार ने अभेद्य, अनुल्लघनीय समझा था,

उसे छः राजवंदियो ने छ मिनट में पार कर दिया।

उधर जेल के भीतर जहा गैस की रोशनी मे जर्रा-जर्रा चमचम कर रहा है—जोरो का शोर हो रहा है—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी।"

इधर जेल के वाहर, जहा इस अमावस्या का सूचीभेद्य अंधकार है, छ राजवदी भागे जा रहे हैं—काले घुप्प अन्धकार में, भूत की तरह।

(२)

दूसरे दिन ढाई वजे दिन मे पटना सेक्रेटेरियट में आल-क्लियर टेलिफोन घनघना उठता है—

"हलो, हलो।"

"जी मै हूं सुपरिन्टेन्डेन्ट हजारीवाग जेल।"

"क्या वात है?"

"अधेर हो गया, छ· राजवन्दी जेल से भाग गए!"

"कव भाग गए?"

"जी अभी-अभी पता चला है।"

"दिन मे भाग गए?"

"जी, पता नही चल रहा है, कव भागे? हम पता लगा रहे हैं। शायद भोर में भागे हो।"

"कैसे भागे?"

"उसका भी पता हम लगा रहे है।"

"वे लोग कौन थे?"

"उनमें एक थे जयप्रकाश नारायण।"

"जयप्रकाश नारायण? हलो, आप कह रहे हैं जयप्रकाश नारायण सोशलिस्ट नेता?"

"जी, वही।"

और उसके वाद विहार के सारे सूबे मे खलवली थी। हर जेल मे सूचना दी गई, होशियार रहो, कोई व्यापक षड्यन्त्र है। हर जिले में खबर की गई, होशियार रहो, न-जाने क्या हो?

राची में फौजी पड़ाव है। जापानी आक्रमण से वचने के लिए

हिन्दुस्तान की सेकेन्ड लाइन आव डिफेंस। हजारीवाग से सिर्फ चालीस मील पर है वह पडाव। वहा खबर की जाती है, इन कैदियो को पकड़ने में फौज की मदद दो।

ऊपर हवाई जहाज मंडरा रहे है—जगल, पहाड, मैदान—सव जगह गृद्धदृष्टि से देखा जा रहा है—भगोडे कैदी कहा है ?

हजारीवाग से वाहरी दुनिया में जानेवाली सभी सड़को और राहो पर पहरे पड रहे हैं।

विहार गजट का विशेष सस्करण निकलता है—

हजारीवाग सेंन्ट्रल जेल से छ कैदी भाग गए हैं। जो उन्हे पकडा देगा, उसे इक्कीस हजार रुपये इनाम मे मिलेंगे। हर कैदी पर इनाम की रकम यो है—

जयप्रकाश नारायण	...	५०००)
योगेन्द्र शुक्ल	...	५०००)
रामनन्दन मिश्र	...	५०००)
सूरज नारायण सिंह	...	२०००)
गुलाली सोनार	...	२०००)
शालिग्राम सिंह	...	२०००)

फौज, पुलिस, जेल—तीनो विभागो के लोग इन कैदियो को पकडने के लिए एडी-चोटी का पसीना एक कर रहे है। कुछ ऐसे सज्जन भी, जो कुछ रुपयो पर देश को बेच सकते है, इनका साथ दे रहे है।

सडको पर, राहो पर, पगडडियो पर चलनेवाले एक-एक आदमी को गौर से देखा जाता है।

किन्तु, उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं, व्यर्थ जा रहे है।

(२)

जव जेल की दीवार पार करके वे छ कैदी चले तो जल्दी मे जान न सके कि किधर जा रहे हैं।

यह पहाडी जिला—चारो ओर जगल-जगल—कही-कही वस्तिया।

तय था, जेल से निकलकर वे एक निश्चित पथ से वटेगे और यहा

से सात मील दूर के एक गांव में जाकर दम लेंगे। वहां से सवारी का प्रवन्ध करके वे वाहर जायंगे—कहां ?

निश्चय किया गया था कलकत्ता पहुंचने का।

किन्तु यहा तो रास्ता ही भूल गया।

जंगल-जंगल वे वढ़ रहे हैं और जव पीछे मुडकर देखते हैं, एक पहाडी पर वने उस जेल के सेन्ट्रल टावर की रोशनी देखते हैं।

यह रोशनी उन्हे कितना भयभीत करती है !

कि अचानक गुर्राहट।

अरे, क्या यह शेर है ?

हा, शेर ही तो।

विहार के शेर श्री योगेन्द्र शुक्ल आगे वढते है, उसी भयानकता से ललकारते हैं। लगता है, शेर ने शेर की कद्र की। उसने रास्ता छोड़ दिया। वे आगे वढ़े।

उस दिन जव दुनिया दीवाली मना रही थी और जेल में वारह वजे तक 'दीवाली फिर आ गई, सजनी' की धूम मची थी, ये छ. राज-वंदी घनघोर जंगल में, कालेघुप्प अंधेरे में, आगे वढ रहे थे।

इनके पैर नंगे थे, कपड़े भीग गए थे।

जूतों और कपड़ों की गठरी जेल में ही रह गई थी। कमंद के सहारे उसे फेकने की कोशिश की गई, किन्तु वेकार। फिर ज्योंही वाहर निकले, सव-के-सव एक नाले में गिर पड़े। पैर में कांटे चुभ रहे थे, सर्दी के मारे दांत किटकिट कर रहे थे। तो भी वे वढ़ते जा रहे थे।

रात-भर चलते रहे।

कहां जा रहे हैं, कुछ पता नही। ध्रुव-नक्षत्र को देखकर अपने जानते उत्तर दिशा की ओर वढ़ रहे हैं।

अन्तत. जव आकाश मे लाली फैली, उपाकालीन मन्द हवा चलने लगी, तो इनकी आंखों पर नीद मंड़रा उठी। एक पेड़ के नीचे सो गए।

जव चारों ओर सूरज की रोशनी जगमग कर रही थी, तव उनकी

नींद टूटी । अरे, पैरो की क्या हालत है ? वे रक्त से सने हैं । चेहरे और वदन भी देखने लायक । कितने खरोच, कितने जख्म !

तो भी चलना है । चलना है । चलना ही है ।

पैर घसीट रहे हैं, लेकिन अब पेट में भूख की कुलबुलाहट है । यहां खाने को क्या मिले ? सामने एक झरबेरी का पेड़ है, उसके छोटे-छोटे खट्ठे-मीठे फल तोड़कर खा रहे हैं । आगे एक करोदे का पेड मिला, उसके फल भी चखे गए । फिर एक आवले का पेड ! लेकिन इनसे क्या भूख मिट सकती है ? शाम तक पेट में जैसे आग दहकने लगती है ।

पास में सिर्फ सौ रुपयेका एक नोट है और फुटकर सिर्फ चार आने ।

सौ रुपये का नोट कहा भजे ? उनमे से एक आदमी जंगल से निकल कर सड़क के किनारे के एक भडभूजे की दुकान पर आता है और चार आने का चीउडा खरीद कर ले आता है ।

चौवीस घण्टे के वाद चार आने के छः छटांक अन्न पर छ आदमी टूटते हैं । "थोड़ा वचा करके भी रखो भाई, न-जाने फिर कव अन्न के दर्शन हो !" दो-दो मुट्ठी मुह मे रखते हैं, एक झरने से खूब पानी पी लेते हैं और एक पेड़ के निकट सो जाते हैं !

फिर भोर—फिर यात्रा ।

किन्तु यह क्या ? जयप्रकाश का साइटिका उभड आया है । सारे पैर में तनाव है, दर्द है । वह चल नही पाते । पैर तो घायल हैं ही । दो साथी उन्हें सहारा देकर आगे वढा रहे हैं । कभी-कभी उन्हे लकडी पर टांग करके भी आगे वढते हैं ।

दिनभर चलते रहे । संध्या के ममय एक गाव निकट आया, एक परिचित गांव । इसी गाव मे तो दुवेजी, एक देशभक्त, हाल ही जेल से छूटकर आए हैं ।

दुवेजी ने भोजन का प्रवन्ध किया, वैलगाडी का प्रवन्ध किया । रात में तीन आदमी वैलगाडी के ऊपर लेटे हुए हैं, तीन आदमी आगे-पीछे चल रहे हैं । वैलगाडी में लकडिया लाद दी गई हैं । इन तीनो के हाथ में कुल्हाड़ी और डण्डे हैं । लोगो को लगता है, किसान लोग जंगल से लकडी काटकर घर लौट रहे हैं ।

हजारीबाग जिला पार किया गया। गौतम बुद्ध की पावन भूमि गया जिले मे पहुच गए। वहा से शेरशाह के शाहावाद जिले मे आए।

एक सप्ताह तक इसी तरह पैदल और बैलगाडी पर चलते रहे। फिर एक छोटे-से स्टेशन पर रेलगाडी पकडकर काशी पहुंचे।

पहुचना था कलकत्ता—पहुच गए काशी!

गुपचुप एक प्रोफेसर मित्र के घर गए। मित्र ये नही, उनके नौकर ने कहा—"बाबू, आपको क्या हो गया है? क्या बीमार थे?"

और, बाबू भागे जा रहे हैं—कही इस नौकर ने इनाम के लोभ मे गिरफ्तार करा दिया तो!

(४)

१९४२ की नवी अगस्त भारतीय इतिहास मे अमिट हो चुकी है, तो उसकी १९४२ की दीवाली भी कभी नही भूली जा सकेगी।

भारत के राजनैतिक इतिहास के लिए यह एक अनोखी घटना थी।

वारंट कटा, कही गायब हो गए। जेल मे भेजे जा रहे थे, बीच मे चम्पत हो गए। जमानत पर बाहर आए, नौ-दो ग्यारह हो गए—ऐसी घटना तो प्रायः घटती रही है, किन्तु जेल की दीवार को फाद कर पाच साथियो को लेकर एक साथ निकल भागना और वह भी जयप्रकाश-जैसे आदमी के लिए—एक विचित्र बात थी।

विचित्र बात यह भी थी कि शाम को ये लोग भागे और दूसरे दिन दोपहर तक जेलवालो को पता तक नही चल सका।

जो जेल मे रह गए थे, उन साथियो ने ऐसा प्रबन्ध किया कि जहा हर दो घटे पर कैदियो की गिनती होती है, वहां बीस घटो तक इनके भागने का पता नही चल सका।

जब दूसरे दिन बारह बजे उनसे परामर्श करने जेल का सुपरिटेंडेट आया और उन्हे नही पाया तो उसे विश्वास भी नही हो रहा था कि जयप्रकाश भाग गए होगे।

जब जेल की पहली घटी बजी और घोषित किया गया कि जय-प्रकाश जेल से भाग गए हैं तो वहा के सभी राजबन्दियो को लगा, सरकार पागल हो गई है क्या?

जब पुलिस सुपरिंटेंडेंट जेल के भीतर जाच-पडताल के लिए आया तो उसने भी कहा, "यह हो नही सकता कि जयप्रकाशजी भाग गए हों। आप लोग दिल्लगी कर रहे हैं !"

जयप्रकाश—इतने शान्त, इतने शिष्ट ! देश में जिनकी इतनी प्रतिष्ठा ! गाधीजी ने जिन्हे समाजवाद का आचार्य कहा था ! वह भाग जाय ? राम, राम !

लेकिन, जो लोग ऐसा सोच रहे थे, और प्राय सभी लोग ऐसा ही सोचते थे, वे नही जानते थे कि जयप्रकाश के हृदय मे इस समय कौन-सी आग धू-धू कर रही थी।

जयप्रकाश ने देखा था, किस तरह प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८) के समय हम लोग देखते ही रह गए और कितने देश उसमे फायदा उठा कर स्वतत्र हो गए।

यदि दूसरे महायुद्ध मे भी हम चूक गए तो हमारी गुलामी स्थायी-सी बनकर रह जायगी।

अत. ज्योही दूसरा महायुद्ध छिडा, उन्होने आवाज लगाई—हमे आजादी की लडाई छेड देनी चाहिए।

रामगढ-काग्रेस के पहले ही उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से भी वह गुपचुप नेताओ के पास पत्र और अखबारो में लेख भेजकर इस बात पर बार-बार जोर देते रहे।

जब पहली सजा भुगत कर वह छूटे, देशभर में घूमघूमकर इसके लिए सगठन करने लगे। किन्तु बम्बई मे उन्हे फिर गिरफ्तार किया गया।

बम्बई से देवली कैम्प। देवली के वे खत—जिन्होने एक बार भारत को हिला दिया था और, अन्तत तीन सप्ताह के अनशन के बाद देवली कैम्प को तुडवाकर फिर हजारीबाग लौटे।

अगस्त-आन्दोलन के प्रारम्भ से ही वह इस चेष्टा मे थे कि कैसे जेल से भागा जाय।

लेकिन एक-पर-एक विघ्न आते रहे। अन्त में यह दीवाली !

और उसके बाद—

उन्होने सारे भारत का दौरा किया—दिल्ली, वम्वई, मद्रास, कलकत्ता और नेपाल।

नेपाल मे गिरफ्तार हुए और आजाद दस्ते द्वारा उनका उद्धार किया गया। वह रोमाचकारी घटना तो अलग एक लेख की चीज़ है।

अव दूसरी दीवाली निकट पहुच रही थी। जयप्रकाश का स्वास्थ्य ख़राव हो चुका था। सोचा गया, अगली दीवाली काश्मीर मे मनाई जाय। वहा से लौटकर एक वार फिर होली जलाने की चेष्टा की जायगी! देश को आजाद किए विना चैन कहा!

दिल्ली स्टेशन पर, जव गाड़ी रवाना होने को है, एक साहव आकर एक फर्स्टक्लास डव्वे में चढ जाते हैं। डव्वा रिजर्व है। उसपर कार्ड लगा है—एस० पी० मेहता।

भोर। अमृतसर। साहव चाय की चुस्की ले रहे हैं कि तीन सज्जन आ धमकते हैं—एक अंग्रेज, दो सिक्ख। तीनो खडे हैं, इन्हे घूर रहे हैं।

"वैठिए। तशरीफ रखिए।"

"आप कहां जा रहे है?"

"रावलपिंडी।"

"आपका साथी कहा है?"

"साथी? मै तो अकेला हूं।"

"तो आप सिर निकालकर किसे देख रहे थे?"

"आपको धोखा हो रहा है शायद।"

"यह नेपाल नही है।"

"नेपाल?"

"जीहा, आप वुरी तरह फस गए हैं।"

"आप क्या कह रहे हैं? मैं तो वम्वई का एक व्यापारी हूं। मै कभी नेपाल गया भी नही।"

"आप जयप्रकाश नारायण हैं।"

"जी नही, मैं हूं एस० पी० मेहता।"

"खैर, तलाशी दीजिए। आप जान गए होगे कि हम पुलिस-अफसर

हैं। आज आप वच गए, यदि फिर सिर निकालते तो हम आपको शूट कर देते।"

तलाशी। गिरफ्तार। लाहौर फोर्ट। वह रौरव यातना। हावियस कॉरपस। आगरा-जेल। ब्रिटिश डेलिगेशन। गांधीजी की शर्त—पहले जयप्रकाश को छोडो। रिहाई।

× × ×

चौदह वर्षों के वाद भी जव-जव दीवाली की याद आती है, हजारी-वाग जेल मे उस दिन राजवंदी द्वारा गाए गए वे समवेत स्वर कानो में गूजने लगते हैं—

"दीवाली फिर आ गई, सजनी !"

और जव-जव जयप्रकाशजी को—उनके शान्त, सौम्य, स्निग्ध चेहरे को देखता हूं, १९४३ के वे शब्द तरगित हो उठते हैं—"मैं हूं एस० पी० मेहता !"

: ११ :

रोटी और शराब

हाग्नात्सियो सिलोने यूरोप की तरुण पीढ़ी के उन लेखको मे हैं, जिनकी कला की धूम अब संसारभर में छा चुकी है । इटली के इस सपूत की लेखनी ने इटली के जन-जीवन और सघर्षो का ऐसा चित्र उपस्थित किया है कि उसे देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है ।

इस बार की यूरोप-यात्रा मे सिलोने से मिलने का सुअवसर पेरिस में प्राप्त हुआ था । हम लोग एक ही सास्कृतिक सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए पेरिस पहुचे थे । मैं जिस होटल में ठहराया गया था, पता चला, उसीमें सिलोने भी ठहराए गए है, किन्तु वहा के अस्त-व्यस्त जीवन मे, होटल में उनसे मिलना न हो सका। अचानक एक दिन सम्मेलन द्वारा आयोजित चित्र-प्रदर्शनी मे उनसे साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

मझोला कद, भरा-पूरा शरीर, चौडा ललाट, पतली नाक, चमकती आखें और गेहुंआ चेहरा । बालो मे अस्त-व्यस्तता, सफाचट दाढी पर सघन मूछें । पोशाक में ढीला-ढालापन और, मैं कहूं, चाल मे भी कुछ खोया-खोयापन का भाव । उनका नाम सुनकर मैंने उनके निकट जाकर भारतीय ढग से नमस्कार किया, उन्होने भी दोनो हाथ जोड़ दिए । लेकिन दिक्कत यह कि वह अग्रेजी नही जानते और मुझे इटालियन भाषा का ज्ञान नही । किन्तु तुरत उनकी धर्म-पत्नी आ गई और उन्हीके माध्यम से कुछ बाते हुई और तय पाया, हम लोग होटल में एक दिन चाय पर मिलेंगे । होटल मे जब हम मिले, उनकी पत्नी के माध्यम से ही काफी बातें हुई । भारतीय साहित्य की गतिविधि समझने के लिए उनमें बड़ी उत्सुकता देखी । मेरा अपना अनुभव है, इटली और भारत के अंतरंग और बहिरंग मे बड़ी एकरूपता है और दोनो के ही कृषि-प्रधान

और धर्म-प्रधान देश होने के कारण दोनो की समस्याओ और उनके निदान मे भी समानता है।

सिलोने का जीवन बहुत रोमांचकारी रहा है। वह एक साधारण किसान के लडके हैं, उनकी माता अपने हाथो कपडे बुना करती थी। बचपन से ही अपने देश की दयनीय स्थिति की ओर उनका ध्यान गया और अठारह साल के होते ही उन्होने एक पत्र निकालकर अपने देश की जनता में, खासकर युवको मे, नई क्रांतिकारी भावना भरना शुरू कर दिया। जब इटली में मुसोलिनी का उदय हुआ, सिलोने ने फासिज्म के खिलाफ जबर्दस्त आवाज उठाई, उनके अखबार को तीन बार जब्त किया गया। जब उन्हे मालूम हुआ कि फासिस्टो के गुर्गे उन्हे पकडने की ताक मे हैं, तो वह अपने देश से भाग निकले और पाच वर्ष तक निर्वासित जीवन का घोर कष्ट उठाते रहे, किन्तु देश की दुर्गति ने उन्हे बाहर भी नहीं रहने दिया। जब देश का जन-जीवन नष्ट किया जा रहा हो, जब जनता को गुमराह बनाकर उसे सर्वनाश की ओर घसीटा जा रहा हो, तब सच्चे देश-भक्त का काम सुरक्षा ढूढना नही, बल्कि जान पर खेलकर जनता को सच्ची राह बताना और उसे सघर्ष की ओर ले जाना होता है। अत. सिलोने गुप्त वेश मे अपने देश लौटे और लगातार पाच वर्षो तक गुप्त वेश मे ही काम करते रहे। किन्तु स्थिति दिन-दिन गंभीर होती गई, उनका इटली में रहना बिल्कुल ही असभव हो गया। इस बार १९३० ई० में जब उन्होने देश छोडा तो चौदह वर्ष तक बाहर-ही-बाहर रहे। स्विट्जरलैण्ड के जूरिख नामक शहर में ही इस अवधि में वह मुख्यत. रहे, किन्तु यहा भी बैठे नही रहे। उनकी लेखनी लगातार चलती रही। उनका साहित्य गुप्त रूप से इटली पहुचता रहा। यही नही, यूरोप का ध्यान भी, साहित्य के माध्यम से, वह इटली की ओर आकृष्ट करते रहे।

पिछले महायुद्ध में जब मित्रराष्ट्रो की मुक्ति सेना यूरोप मे घुसी, सुअवसर जानकर, सिलोने ने अपने देश में जाने का निश्चय किया। पादरी का वेश धारणकर उन्होने नाजी सेना को चकमा दिया और कितनी ही बार जान पर खेलकर अन्तत. अपने देश में पहुचकर उन्होंने

इटली के आजाद दस्ते के संगठन में योगदान दिया और उन्हे यह देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ कि फासिस्टों के खूनी पजे से उनके देश को सदा के लिए मुक्ति मिली। अब अपनी लेखनी द्वारा वह इटली के प्रजातन्त्र को ऊँचे स्तर पर ले जाने में संलग्न हैं।

उनकी पुस्तको मे 'फोंतामारा', 'ब्रेड ऐंड वाइन', 'सीड विनीथ द स्नो', 'ऐंड ही हिड हिमसेल्फ' बहुत ही प्रसिद्ध हुई हैं। सिलोने मुख्यतः उपन्यास लिखते हैं, किन्तु उनकी अन्तिम पुस्तक नाटक है। आलोचको ने लिखा है, "उनके उपन्यासो में गोगोल, दास्तावेस्की और मिलविले ऐसे महान् लेखकों की उपन्यास-कला की झलक मिलती है।" यो तो 'फोंतामारा' को बहुत प्रसिद्धि मिली, किन्तु उसमें प्रचार की पुट कुछ अधिक है। उनकी प्रतिभा और लेखन-कला का उत्कृष्टतम उदाहरण 'ब्रेड ऐंड वाइन' ('रोटी और शराब') है, अधिकांश आलोचको का ऐसा मत है।

'रोटी और शराब' से हम, अपने संस्कार के अनुसार, कोई अन्यथा अर्थ न निकालें। इटली में यह एक खास अर्थ रखता है—वहां यह किसान-जीवन का प्रतीक माना जाता है। जब किसान के घर किसी बच्चे का जन्म होता है, पड़ोसियों में रोटी और शराब बाटी जाती है और जब उसके घर किसीकी मृत्यु होती है, तब भी रोटी और शराब से ही उसका श्राद्ध सपन्न होता है। नया अन्न नौ महीने मे तैयार होता है, अंगूरी भी नौ महीने के बाद ही चखी जाती है और बच्चे का जन्म भी नौ महीने में होता है। यो रोटी और शराब का नई मानवता के प्रतीक रूप में भी लेखक ने व्यवहार किया है।

उपन्यास का कथानक बहुत छोटा है। एक बूढा पादरी, जो पहले शिक्षक का काम करता था, संध्या समय अपने कुछ शिष्यो की प्रतीक्षा कर रहा है, क्योकि आज उसका जन्मदिन है और इस अवसर पर सदा उसके कुछ प्यारे शिष्य आते रहे हैं। जो शिष्य आते हैं, उनमे एक डाक्टर है, एक पादरी। वे गुरुदेव की सेवा मे कुछ उपहार भी अर्पित करते हैं। पुराने जमाने की चर्चा आती है। अपने पुराने शिष्यो के बारे में पूछताछ करता हुआ बूढ़ा पादरी पूछ बैठता है—वह लड़का अब कहा

है, जिसका नाम स्पिना था ? स्पिना पर उसकी ममता है, क्योकि वह कुछ अजीब लडका था—बहुत ही गभीर, कम बोलता, दुबला-पतला, किन्तु दृढनिश्चयी, धुन का पक्का। पता चलता है, उसने क्रान्तिकारी राजनीति को अपनाया है। गिरफ्तारी से बचने के लिए वह फरार हो गया है, कोई-कोई कहते हैं, वह विदेश भाग गया है। बूढे पादरी का शिष्य यह कहने से भी नही चूकता कि वह तो नास्तिक हो गया है। उसके नास्तिक हो जाने की बात सुनकर बूढा पादरी घबराता नही, घृणा नही प्रकट करता, बल्कि बोल उठता है—"जो न्याय और सत्य के लिए जीता है, वह नास्तिक नही है, वह भगवान मे है और भगवान उसमें है।" यही नही, उस शिष्य के फरारी जीवन पर वह हार्दिक दुख प्रकट करता है—"लोमडी के लिए माद है और चिडियो के लिए घोंसला, किन्तु आदम औलाद के लिए ऐसी जगह नही, जहा वह सर घुसा सके। हाय, जब वह अपने सपनो के अनुसार जीना चाहता है तो धर्म के ठेकेदार कहलाने वाले शासक उसे जगली जानवरो की तरह खदेडे फिरते हैं।"

यही स्पिना इस उपन्यास का नायक है। विदेश मे भी उसे चैन नही, वह वहा से छिपकर ही अपने देश लौटता है, दिन-रात काम करता है। न खाने का ठिकाना, न पीने का, न सोने का, न आराम करने का। वह बीमार पडता है, उसे क्षयरोग हो जाता है। तब वह अपने पुराने दोस्त उसी डाक्टर को बुलाता है, जो उस दिन बूढे शिक्षक पादरी के पास पहुँचा था। डाक्टर उसे पहचान नही पाता, क्योंकि तेजाब डालकर उसने अपने चेहरे को ऐसा बना लिया है कि वह बहुत बूढा मालूम हो। किन्तु वह डाक्टर पर अपना भेद प्रकट कर देता है। उसी डाक्टर की सलाह से वह वहा से भागकर दूर के एक पहाडी गाव में जाता है, अपनेको और भी छिपाने के लिए वह पादरी का वेश धारण कर लेता है।

इस गाव मे आने पर उसे अपने देश के लोगो के यथार्थ जीवन का परिचय होता है, वे कितने दकियानूस हैं, मूढ हैं, धर्मांध हैं। इसी सिलसिले मे उसका दो लडकियो से परिचय होता है, एक कामुकता की

मूर्ति है, दूसरी धार्मिकता की जीवित प्रतिमा । दूसरी लडकी की ओर वह कुछ आकृष्ट होता है, किन्तु देखता है, यह लडकी अपने मे ही, अपनी पवित्रता मे ही लिपटी हुई है । वह उसकी ओर से भी हटता है। तवतक उसकी तबीयत कुछ अच्छी हो चली है और उधर अबीसीनिया की लड़ाई शुरू होती है । वह सोचता है, यही क्राति का अवसर है । वह उस गांव को छोड़कर रोम शहर में आता है, जहा उसकी पार्टी का सदर मुकाम है । वहा वह पाता है, क्रान्तिकारी विचारवालो पर आफत है, वे सब-के-सब गिरफ्तार हो चले हैं । जो एकाध बचे हैं, वे सब लुकछिपकर क्राति का काम चला रहे हैं । वहा उसकी एक और लडकी से भेंट होती है, जो अपने क्रातिकारी प्रेमी को बचाने के लिए अपने ऊपर बलात्कार होने देती है, किन्तु उसका प्रेमी इसके बदले उसके मुह पर थूककर चल देता है ।

वह छटपटाता हुआ फिर गावो की ओर लौटता है । गाव के लोग फासिस्टों के प्रचार-जाल मे फंस गए हैं । वे युद्ध के नशे में पागल हैं—किसीकी युद्ध-विरोधी बात सुनने को वे तैयार नही, उल्टे उन लोगो को ही देश का दुश्मन समझते हैं । वह अपने गुरु बूढ़े पादरी से मिलता है । बूढे की दृष्टि पैनी है, यह अपने शिष्य की ही तरह इस युद्ध को सत्या-नाशी समझता है । वह खुले आम युद्ध के विरोध मे, शान्ति और न्याय के पक्ष मे, प्रवचन करता है । किन्तु इसका फल उसे भी भुगतना होता है—उसे धोखे से जहर पिलाकर मार दिया जाता है । तब भी लोगो की आखें नही खुलती। इतने पर भी स्पिना हिम्मत नही हारता । वह फिर रोम जाता है । वहां उसकी उस कामुक लड़की से भेंट होती है । डूबते को तिनके का सहारा । उसे ही लेकर वह फिर देहात लौटता है । किंतु अबतक उसे फसाने के लिए जाल बिछाया जा चुका है । वह समझ लेता है, उसका अंत निकट है । वह उस गाव में लौटता है, जहा वह बीमार की हालत में रहता था, क्योकि वहा कुछ आवश्यक कागज-पत्र हैं । उन कागज-पत्रो में एक नोटबुक है, जिसमे उस धार्मिक लड़की को लक्ष्य करके उसने कुछ लिख रखा है । वह नोटबुक उसके पास भेजकर वह पहाडी की ओर निकल पड़ता है, जहां बरफ-ही-बरफ है,

क्योकि अन्य सारे रास्ते उसके लिए वन्द हैं, सब जगह उसे पकड़ने के लिए खुफिया तैनात कर दिए गए हैं।

वह लड़की जब नोटबुक देखती है, चौंक उठती है। जरा उनकी कुछ पंक्तियां तो देखिए—

—हमारा प्रेम, हमारा वलिदान, हमारा त्याग सब झूठे हैं, व्यर्थ हैं, जबतक कि वे भावनामात्र है, अमानवीय सकेतमात्र । जब हम उनका उपयोग अपने मानव-बंधुओ के लिए करते हैं, तभी वे वास्तविक वनते हैं, सफल होते है। वास्तविक जीवन मे ही नैतिकता जीवित रहती और विकसित होती है।

—जब हम अपनी नैतिक भावना को अपने चारो ओर फैली हुई अव्यवस्था की तरफ मोडेंगे तब हम क्रियाहीन नही रह सकेंगे और न हम अपनेको स्वर्ग की कल्पना मे वहला सकेंगे । तब हमे कल्पना के शैतान से ही लडना न रह जायगा, वल्कि हम उन शक्तियो से लडना शुरू करेंगे जो आदमी को आदमी के खिलाफ खडा करती हैं।

—वह कैसा दिन होगा, जब तुम्हारी तरह के नैतिक और आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत लोग अपनेको धार्मिक अनुष्ठानो मे न फंसाकर सामाजिक जीवन को उन्नत वनाने के कार्य मे उत्सर्ग कर देंगे। वही क्राति का दिन होगा, उसी दिन एक तरह के नए मत, एक तरह के नए शहीद, एक तरह के नए आदमी, पृथ्वी पर अवतरित होगे।

—आज के समाज मे इसके सिवा अपनी आत्मा की रक्षा के लिए कोई दूसरा मार्ग नही है। उसीकी आत्मा पतन से वच सकती है, जिसने व्यक्तिगत अहकार, पारिवारिक अहकार और वर्गगत अहकार पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसने अपने चारो ओर कल्पना का घेरा न वना लिया हो, जिसने अपनेको हवाई किले मे वद नही कर लिया हो। आत्मा उसीकी मुक्त है, जिसने अपनेको वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से घवराकर भाग खडे होने की भावना को मार भगाया हो। नैतिक जीवन का अर्थ ही है उत्सर्ग और वलिदान का जीवन। आज के समाज में क्रातिकारी जीवन ही यथार्थ मे नैतिक जीवन है।

—क्रिस्टिना, डरने की वात नही अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए

इस तरह परेशान होने की जरूरत नही। नैतिक जीवन और सुरक्षित जीवन साथ-साथ नही चला करते। अपनी सुरक्षा के लिए संघर्ष करना होगा, सकट झेलना होगा।

उस लडकी का नाम क्रिस्टिना है। इस नोटबुक को पढकर उसे पता चल जाता है, वह साधु नही, क्रातिकारी है। इस सध्या के समय वह वर्फ-भरी पहाडी की ओर गया है, रात में उसकी क्या दशा होगी ? वह चल पड़ती है उस पहाडी की ओर—कुछ गरम कपडे लेकर, रोटी लेकर और एक वोतल मे इटली की प्यारी लाल शराव लेकर। वह पहाड़ी की घाटी में घुस जाती है, इधर-उधर ढूढती है, दौडती है, थकती है, वेहोश होती है, फिर उठती है, चलती है, चिल्लाती है—स्पिना ! स्पिना ! किन्तु कोई उत्तर नही देता। जव वह योंही गिरती-पड़ती वढ रही है, अचानक उसे आवाज सुनाई देती है। यह आवाज स्पिना की है ? नही, यह भेडिये की आवाज है ! यह आवाज उससे अपरिचित नही। वह समझ जाती है, उसका अन्त निकट है। एक वार जोरो से चिल्लाती है—स्पिना ! स्पिना ! किन्तु मानव-आवाज शात भी नही हुई कि वह खूखार आवाज उसके अति निकट आ गई। वह घुटने टेक देती है, प्रार्थना करती है, मूर्छित होती है।...

उपन्यास यही समाप्त होता है ! उपन्यास का प्रारम्भ हुआ था एक पादरी की ज्ञान-वाणी से, उसका अन्त होता है, एक पवित्रात्मा की करुण पुकार से। इसके वीच क्रातिकारी का वह सघर्षमय जीवन। संघर्ष सिर्फ ऊपर का नही, भीतर का भी। सिलोने की तरह ही रूपोगी के लिए नायक ने पादरी का वाना धारण कर लिया है। भीतर क्राति की ज्वाला सुलग रही है, ऊपर दकियानूसी का चोगा लटक रहा है—इस द्वंद्वमयी परिस्थिति में जैसे नायक की आत्मा कभी आग मे झुलसती है, कभी वर्फ मे ठिठुरती है। फिर एक तरफ कितावी ज्ञान, दूसरी तरफ जन-जीवन का यथार्थ परिचय—दोनो में कितना अन्तर है। यह देखकर नायक की दशा अजीव दुविधामयी हो जाती है। वह नये-नये अनुभवो से गुजरता है, ये अनुभव मार्मिक पीड़ा लाते हैं, किन्तु वह कभी विच-लित नही होता, हमेशा कर्ममय वना रहता है। उसके अन्त को अनिर्दिष्ट

रखकर तो सिलोने ने और भी कमाल किया है। इस तरह यह पुस्तक निराशा का वातावरण नही उपस्थित करती, सतत प्रयत्न का ही सदेश देती है।

इस पुस्तक के पढते समय गोर्की की 'मदर' की बार-बार याद आती है, किन्तु गोर्की की उस अनुपम कृति मे इसमे विशेषता है। वह कृति आरम्भ से ही पाठको को एक खास दिशा की ओर ले जाती है, यो उच्चकोटि की कलाकृति होने पर भी वह प्रचार से दूर नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के पढते समय यह कही नही मालूम पड़ता कि लेखक की अपनी मान्यता क्या है ? लगता है, वह निरपेक्ष भाव से अपने नायक के पीछे चलता हुआ उसकी शारीरिक और मानसिक गति का चित्र-पर-चित्र उपस्थित करता जा रहा है। यह चित्रण इतना स्वाभाविक और जीवनमय है कि कही ऊब या वितृष्णा पैदा नही होती। घटनाओ का ताना-बाना कही-कही ऐसा जटिल है कि जासूसी उपन्यासो का-सा मजा आ जाता है। हर स्थान पर एक सघर्षशील आत्मा की छटपटाहट का अनुभव होता है। जान पडता है, इस छटपटाहट से कितनी ही बार पाठक को स्वयं भी गुजरना पडा है। इटली के प्राकृतिक दृश्यो की ऐसी पृष्ठभूमि रखी गई है कि उसकी मिट्टी, उसके पेड-पौधे, उसके झोपडे, उसके मन्दिर, उसके महल, उसके राजपथ, उसकी पगडडिया—सब चलचित्र की भाति आखो के सामने अनायास घूमने लगते हैं।

'रोटी और शराब'—ससार की सुन्दरतम कृतियो में गिनी जायगी। क्या अपने देश के सघर्षो का ऐसा चित्र नही उपस्थित किया जा सकता ?

: १२ :

'एक भारतीय आत्मा'

सतपुडा की तलहटी मे, नर्मदा के किनारे, एक गाव मे एक गोरा-सा लडका कुछ फूल-पत्तो तथा कागज के टुकडो को लेकर एक दुनिया का निर्माण कर रहा था कि पडोस के घर से एक बालिका निकली। हौले कदमो से, वह चुपचाप आगे वढती गई और एक ही झपाटे में उस बालक की दुनिया का सर्वनाश कर, खिलखिलाती हुई भाग चली। इसके पहले भी, वह इस आठ-नौ वर्ष के बालक को, कई बार तग कर चुकी थी, किन्तु इस वार उसका यह नटखटपन बालक को बहुत खला। उसकी आंखो मे दो मुक्ताए चमक पडी, किन्तु उन्हे दरिद्र की निधि की तरह, उसने जहा-का-तहा जब्त कर लिया। अब उसका गोरा चेहरा तमतमा उठा—लाल, सुर्ख। वह चुपचाप वहा से चलता वना। घर आया। अपना वस्ता खोला। कागज निकाला। सरकडे की कलम से उसपर कुछ टेढी-मेढी लकीरे खीचने लगा। फिर कागज को वड़ी सावधानी से मोडकर अपनी जेब मे रख, वह गाव से वाहर ग्राम-रक्षक की तरह खडे हुए पुराने पीपल के पेड के निकट आ खडा हुआ। इधर-उधर देखा। जेव से कागज निकाला, उसको फिर पढा और साथ मे लाई हुई लोहे की एक कील को उस पेड में ठोककर उससे उस कागज को लटका दिया। एक वार इधर-उधर देखा कि किसीने देख तो नही लिया और फिर नौ-दो-ग्यारह हो गया। कुछ देर के वाद ही उस पेड़ के निकट एक छोटी-सी भीड लग गई। लोगो ने समझा, किसी के खेत की नीलामी का इश्तहार अदालत का चपरासी टाग गया है। उत्सुकतावश जव उसे देखने लगे तो पाई उसमे एक कविता—यदि उसे कविता कहा जाय तो। उस कविता द्वारा उस वालिका से वदला चुकाया गया था। वालिका का नाम था द्रौपदीवाई और उसके पिता का धनीरामजी। वस, दोनो के नाम के साथ,

कुछ और अटगट नामों को गूथगाथ कर, एक अजीबो-गरीब रचना की गई थी—

"घनीराम की पोली पाई,
उससे निकली द्रौपदी बाई।
द्रौपदी बाई ने काटी जामन,
उससे निकला कलुआ बामन।
कलुआ बामन लाया खाट,
उससे निकला काशी भाट।"

आदि-आदि।

थोडी ही देर मे यह कविता गाव-भर मे फैल गई। अपराधी रच-यिता का पता भी नही छुप सका। बालिका के पिता बालक के अभि-भावक के पास दौडे-दौडे आए और क्रोधपूर्ण उलहना दिया। प्राचीन संस्कार मे पले अभिभावक को भला यह शिष्टाचारोल्लघन कैसे पसन्द आता ? गोकि बालक प्यारा था, किन्तु गोशमाली करने मे बाज न आए। यो, इस बाल-कवि को अपनी कविता के प्रथम पुरस्कार के लिए अपने कान की मरम्मत करानी पडी। भला, उस समय यह किसने कल्पना की होगी कि एक दिन यही बालक हिन्दी ससार मे 'एक भार-तीय आत्मा' के नाम से सादर स्थान पायगा।

× × ×

प० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' का जन्मस्थान होने का गौरव महाकोशल के होशगाबाद जिले के बावई नामक ग्राम को प्राप्त है। उनका जीवन उस भूभाग मे ही बीता है, जो सदा नर्मदा के जल से सिंचित होता रहा है। अत एक लेखक ने उनका परिचय 'नर्मदा तट का गायक' के नाम से दिया था, जो सर्वथा उचित है। उनके जीवन पर ही नही, उनकी कविता पर भी नर्मदा नदी की छाप है। पहाड-पहाडियो और पथरीली भूमि मे उछलती-कूदती, लडती-झगडती-सी, तरगमयी, भवरमयी, यौवनसूचक, फेनमयी—सतत-छलछल, हाहा-हूह करनेवाली नर्मदा, 'ठडी शक्ति' की दुर्दर्पता और अजेयता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। अपने गायक के जीवन और

वाणी में भी निस्सन्देह उसने अपनी इन विशेषताओ को, वहुत-कुछ अंशो मे, भर रखा है।

उनकी जन्म-तिथि है चैत शुक्ल एकादशी, सम्वत् १६४४ विक्रम (सन् १८८७)। 'एक भारतीय आत्मा' पेट की वीमारियो के सदा शिकार रहे हैं, जिसके कारण अनाहार और स्वल्पाहार उनकी खासियत हो गई है। अतः उनकी माताजी इस जन्म-दिन, एकादशी, की ओर लक्ष्य करके जवतव फवती कसा करती हैं—"अन्न तेरे वांट कहा पडा, जो तू खाय—तू तो एकादशी को जन्मा है।" उनके पिताजी का नाम था नन्दलालजी चतुर्वेदी। वह ग्रामीण स्कूल के एक साधारण मास्टर थे, किन्तु अपनी परिमित आय से ही अपने परिवार का इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक भरण-पोषण करते थे कि लोगो को आश्चर्य होता था। स्वावलंवन और स्वाभिमान की तो वह मूर्ति थे। जिस समय आज के 'एक भारतीय आत्मा' नाम से प्रख्यात उनके प्यारे पुत्र, उस समय के माखनलाल, ने अपने पैतृक धन्धे स्कूलमास्टरी से प्रारम्भ कर अपनी कमाई का पहला पैसा—कुछ रुपये—उनके पास मनीआर्डर से भेजा तो उन्होने उस मनीआर्डर को, कूपन पर यह लिखकर, लौटा दिया—

"आस पराई जो करे, होते ही मर जाय।"

माताजी की वीरता की तो एक ऐसी करुण कहानी है कि यदि आज भी उन्हे कोई ये पंक्तियां सुना दे, तो दो-एक दिन का उपवास वह जरूर करें—जव-जव उसकी चर्चा चल पड़ी है, वे ऐसा ही करती आई हैं। सुनते हैं, वीर और करुण रस परस्पर विरोधी है; किन्तु इस घटना में इन दोनो का समावेश विचित्र रूप से हुआ है—

'एक भारतीय आत्मा' के पिताजी स्कूलमास्टर थे। गाव के एक छोर पर उनकी झोपड़ी थी। रात में लडको को खानगी पढ़ाने उन्हें उनके घर पर जाना पड़ता था और कभी-कभी देर से भी लौटते थे। मध्य-प्रान्त तो आज भी जंगलों और टीलो-पहाड़ियो से भरा प्रदेश है। उस समय इस जंगली प्रदेश में चीतों की भरमार थी, अतः माताजी सदा अपनी वगल मे एक लाठी लेकर सोती थी। यह आदत नगर में भी आने पर वनी रही। एक रात को पंडित

नन्दलालजी पढाकर कुछ देर से लौटे और दरवाजा खटखटाया। माताजी ने पूछा—"कौन ?" पंडितजी को विनोद सूझा—चुप रहे। फिर दरवाजे पर खटखटाहट, फिर कौन का प्रश्न। एक-दो बार यही क्रम रहा। माताजी को आशंका हुई, अत. झूठ-मूठ, यह वतलाने के लिए कि घर मे कोई पुरुष भी है, वोली—"माखनलाल के पिताजी, उठिए, कोई दरवाजा खटखटा रहा है।" किन्तु इस चकमे में स्वयं माखनलाल के पिताजी कैसे आते ? फिर दरवाजे पर खटखटाहट। माताजी की आशका दृढ हो गई, किन्तु अवला की तरह चीखने-चिल्लाने की अपेक्षा उन्होने अपनी लाठी सम्हाली और आगे वढी। दरवाजा खोला तो सामने एक मनुष्य की सूरत दीख पड़ी। वस, फिर क्या था, उनकी लाठी उसके सिर पर ! एक धीमी आह ! —अरे, यह तो पडितजी हैं ! माताजी को काटो तो खून नही ! उधर पडितजी के सिर से खून जारी। रोशनी की, दवा-दारू की, रोई और उपवास किया। आज भी कहा करती हैं—मुझे इसके लिए नरक भोगना पडेगा। किन्तु इस घटना ने प० नन्दलालजी की आंखो मे अपनी इस वीर पत्नी की कीमत कई गुनी वढा दी। जवतक वह जीवित रहे, पत्नी की इस वीरता की चर्चा अभिमान से करते रहे। प० नन्दलालजी के पूर्वज राजस्थान से आकर मध्य-प्रदेश मे वसे थे। तो क्या इस घटना को राजस्थानी वीरागनाओ के रक्त की एक झलक समझी जाय ?

× × ×

'एक भारतीय आत्मा' उन पुरुषो मे से हैं, जो आप अपना निर्माण करते हैं। एक पूरे परिवार का सचालन करनेवाले देहाती स्कूल के मास्टर अपने पुत्र को ज्यादा-से-ज्यादा जो शिक्षा दे सके, वह थी प्राइमरी तक की। प्राइमरी पास करके 'एक भारतीय आत्मा' होशगा-वाद जिले के ही एक ग्राम में मास्टरी करने लगे। फिर वहा से खण्डवा चले आए। वहा के वम्वई वाजार के एक प्राइमरी स्कूल में अध्यापक का काम किया। जिन लोगो ने उन दिनो एक गोरे, दुवले-पतले, युवक को दर्जनो बच्चों के वीच वैठे, उन्हें वारहखडी और पहाडा रटाते, देखा होगा, क्या उन्होने कल्पना भी की होगी कि यही दुवला-पतला,

लजीला-सा युवक एक दिन न केवल इसी नगर का, वरन् इस प्रान्त का एक प्रमुख पुरुष होगा और कितने ही प्रतिभाशाली सुशिक्षित युवक दूर-दूर से आकर इससे साहित्य की वारहखडी और कविता का पहाड़ा पढ़ेंगे ?

किन्तु जिन्होंने उस समय भी ध्यान से देखा होगा, उन्होने इस युवक में कुछ ऐसी चीजे, वीज-रूप मे, पाई होगी, जिससे कि उसके भावी जीवन की एक धुधली-सी तस्वीर वनाई जा सके।

जैसा कि कहा जा चुका है, कवित्व के नाम पर टेढी-मेढी लकीर खीचना तो 'एक भारतीय आत्मा' ने आठ-नौ वर्ष की उम्र से ही प्रारम्भ कर दिया था। पिताजी तुलसीकृत रामायण और सूरदास आदि के वैष्णव-पदो के वड़े भक्त थे। अत. उन्होने अपने पुत्र की रुचि स्वभावतः ही इस ओर खीची और इस प्रकार प्रथम-प्रथम साहित्यिक गुरु का काम किया। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' प्राइमरी स्कूल की गुरु-ट्रेनिंग मे पढते थे, पं० कुन्दनलाल नामक एक सज्जन अध्यापक थे। कविता से उन्हे शौक था। अपने इस प्रतिभाशाली छात्र में भी उन्होंने इस शौक को पल्लवित किया। सन् १९०३ मे ही, सोलह वर्ष की अवस्था मे, इस किशोर ने एक कविता के द्वारा सरस्वती से यो प्रार्थना की थी—

"जाही हाथ ताने सूर, तुलसी व कालिदास,
वाही हाथ मेरी मात, मोको तान दीजिए।"

खण्डवा मे भी गुपचुप रचनाए चलती थी, किन्तु अपनेको जब्त रखने की भावना इतनी प्रवल थी कि प्रकट नही होने दिया जाता था। आज भी यह रोग (मै तो इसे रोग ही कहूगा) वना हुआ है। यही कारण है कि वर्षो से कितने ही प्रकाशको से आग्रह तथा कितने ही मित्रो और भक्तो के दुराग्रह के वाद भी इनकी कविताओ का सग्रह नही प्रकाशित हो सका था। उस समय की केवल एक रचना कानपुर के 'रसिक मित्र' मे छपी और निस्सन्देह वही 'एक भारतीय आत्मा' की प्रथम प्रकाशित रचना है। उसकी दो पंक्तिया यहा मै इसलिए दे देता हूं कि उनसे पता चलता है कि कवि की विचार-धारा उसके किशोर

जीवन से ही किस ओर प्रभावित हो रही थी—

"जायगो हमारा धन-धाम लुटि दूर देश,
कोई नाहिं चलिवे को मारग बतायगो।
तायगो हरेक बलवान बनि, दीनन को,
हीनन को मानहु खजानो दिखलायगो।"

देश-प्रेम की धारा में ही अपनी काव्य-प्रतिभा को विलीन कर देने वाले, नेतृत्व का बाना धर कितने ही तरुणो को बलिपथ की ओर प्रेरित करने वाले और बलवानो के उत्पीडन और शोषण से दीन-हीनों की रक्षा करने को सदा उद्यत रहने वाले 'एक भारतीय आत्मा' की आत्मा के भावी विकास का बहुत-कुछ आभास इस कोरी तुकबन्दी मे भी मिलता है।

पन्द्रह-सोलह से लेकर पच्चीस-छब्बीस तक की उम्र के नौ-दस वर्ष ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव जीवन के गठन पर बहुत ही अधिक पडता है—ऐसा विद्वानो का कथन है। इन वर्षों के अन्दर ही 'एक भारतीय आत्मा' पर तीन सज्जनो का प्रभाव पडा और उनके भावी जीवन का गठन भी तदनुसार हुआ। वे तीनो महापुरुष हैं—सैयद अमीर अली 'मीर', स्वामी रामतीर्थ और प० माधवराव सप्रे। इन तीनो के प्रभाव के कारण 'एक भारतीय आत्मा' के हृदय मे बीज-रूप विद्यमान कवि-प्रतिभा, आध्यात्मिकता और देशभक्ति का पूर्ण विकास हुआ।

मुसलमान होकर भी हिन्दी के अनन्य सेवक, सुकवि मीरजी को आज हिन्दी-साहित्य-प्रेमी भूल-से रहे हैं। १९०८-९ की बात है। 'छन्द-प्रभाकर' और 'काव्य-प्रभाकर' के रचयिता श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' सेटिलमेंट अफसर के रूप मे उस समय खडवा मे रहते थे। 'भानु कवि समाज' नामक सस्था भी उन्होने यहा कायम कर रखी थी। उस समय 'काव्य-प्रभाकर' का सकलन चल रहा था। भानुजी ने मीर साहब को रेवन्यू इन्सपेक्टर की जगह पर अपने पास बुला लिया था। इस प्रकार खडवा जैसी छोटी जगह में भी साहित्य और कविता का एक विचित्र वायुमडल तैयार हो रहा था। युवक 'एक भारतीय आत्मा' को मीर-साहब ने देखा और इनकी प्रतिभा पर मुग्ध हो गये। यही नही, उन्होने इन्हे

खूब उत्साहित किया तथा काव्य-रीति से व्यापक परिचय कराया। 'एक भारतीय आत्मा' अपने काव्य-गुरु के रूप मे मीरसाहव का स्मरण करते हुए आज भी गद्गद् हो उठते है। मीरजी की सगति ने उन्हे हिन्दू-मुस्लिम-एकता का कट्टर हामी वना दिया। १९२१ के क्राति-युग मे निकली हुई 'एक भारतीय आत्मा' की इन पक्तियो मे मीरसाहव की आत्मा मुस्करा रही है—

"मन्दिर में हो चांद चमकता, मस्जिद में मुरली की तान।
मक्का हो चाहे वृन्दावन, होवें आपस में कुर्बान।"

स्वामी रामतीर्थ से साक्षात्कार करने का सौभाग्य तो 'एक भारतीय आत्मा' को नही हुआ, किन्तु उनकी रचनाओ ने उनको सवसे अधिक प्रभावित किया ? स्वामी राम के कर्तृत्व से ओत-प्रोत, देश-प्रेम से लवा-लव आध्यात्मिकता के घूट ने किस सहृदय को एक वार मस्त न वना दिया होगा। फिर कहने और लिखने की उनकी वह अनूठी शैली! स्वामी राम के शिष्य सन्त पूरणसिंह की हिन्दी रचनाए भी उस समय यदाकदा निकला करती थी। उनमे भी वही नवीन चीज़े नवीन ढग से पेश की गई मिलती थी। 'एक भारतीय आत्मा' का भावुक हृदय इनकी ओर खूव ही खिचा। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' की रचनाओ मे, चाहे वे पद्य में हो या गद्य मे, जो एक खास शैली दीख पडती है, उसका उद्‌गम स्थान है स्वामी रामतीर्थ के वे प्रवचन, यद्यपि इनकी शैली, स्थान, काल, पात्र के भेद से विलकुल एक स्वतन्त्र—इनकी अपनी चीज ही वन गई है!

इसी समय आपको प० माधवराव सप्रे के सत्सग मे आने का सौभाग्य मिला। लोकमान्य तिलक के 'गीता रहस्य' के हिन्दी अनुवादक के ही रूप में हिन्दी-ससार मुख्यत. सप्रेजी को जानता है, किन्तु सप्रेजी केवल इतने ही नही थे। मध्यप्रान्त के सार्वजनिक जीवन के निर्माण मे उनका प्रमुख हाथ है। महाराष्ट्रीय होने पर भी मध्यप्रान्त मे हिन्दी के प्रचार, प्रसार और उसके साहित्य के निर्माण के लिए जो प्रयत्न उन्होने किया, उसका अपना स्थान है। सप्रेजी उस समय नागपुर से 'हिन्दी-केसरी' निकाल रहे थे। उन्होने 'हिन्दी-केसरी' मे 'स्वदेशी-आन्दोलन और वायकाट'

विषय पर एक लेख-प्रतियोगिता कराई और सर्वश्रेष्ठ लेख के लिए पुरस्कार देने की घोषणा की। 'एक भारतीय आत्मा' ने भी डरते-डरते एक लेख लिख भेजा। वह लेख पुरस्कार-योग्य तो ठहरा ही, साथ ही सप्रेजी उससे बहुत प्रभावित हुए, और उन्होने प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी-केसरी' में बराबर लेख लिखते रहने के लिए इनसे आग्रह किया। यही नही, कुछ दिनो के बाद सप्रेजी खडवा आये और इनसे मिले। सप्रेजी की इस सहृदयता ने उनको बहुत ही आकृष्ट किया और वे सप्रेजी के भक्त बन गये। वह अपने राजनैतिक गुरु के रूप मे सप्रेजी को मानते हैं। जबतक सप्रेजी जीवित रहे, 'एक भारतीय आत्मा' सदा उनके अनुयायी बने रहे, और आज भी 'कर्मवीर' पर 'स्व० प० माधवरावजी सप्रे की स्मृति में' यह वाक्य छापकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर रहे है!

× × ×

धीरे-धीरे खडवा मे एक छोटा-सा, किन्तु क्रियाशील, क्षमताशाली, साहित्यिक दल तैयार हो रहा था। इस दल मे 'एक भारतीय आत्मा' के अतिरिक्त स्वर्गीय माणिकचन्द्र जैन, श्री कालूराम गगराडे, प० रामलाल राजवैद्य, श्री चम्पालाल चौहरी, श्री तोताराम पारगीर आदि सज्जन थे। धर्माध्यक्ष पं० बिहारीलाल दाधीच भी उनमें प्रमुख थे, जो 'एक भारतीय आत्मा' के खास प्रेरको मे से थे। इनमे अधिकाश नौजवान थे। बाबू माणिकचन्द जी तो ऐसे उत्साही-साहित्य प्रेमी थे कि इन्होने यहा 'हिन्दी ग्रन्थ-प्रसारक-मडली' की स्थापना की थी, जिसके द्वारा सर्वप्रथम 'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' नामक दो ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ था। मौलियर के नाटको का अनुवाद और प्रोफसर बदरीनाथ वर्मा द्वारा किया गया कवीन्द्र रवीन्द्र के 'समाज' नामक बगला-पुस्तक का अनुवाद भी इसी सस्था से प्रकाशित किया गया था। श्री कालूराम गंगराडे के सम्पादकत्व में इसी समय 'प्रभा' निकली, जिसके सम्पादन-विभाग मे 'एक भारतीय आत्मा' भी थे, और बाद मे तो सम्पादकों मे इनका नाम भी छपने लगा। 'प्रभा' निकलते ही इन्होने स्कूल की मास्टरी छोड दी और अपना पूरा समय इसके सम्पादन और सचालन में देने

लगे। 'प्रभा' ने इनकी प्रतिभा को और भी चमका दिया और इनमे एक सफल सम्पादक के गुण विद्यमान है, यह भी प्रकट कर दिया। किन्तु अपने को जब्त करने की भावना अब भी बनी हुई थी कि इसी समय एक ऐसे सज्जन से भेंट हुई, जो इन्हे घसीटकर जनता के सम्मुख ले आये।

संयोग की बात। सन् १९१३ की रामनवमी को 'प्रभा' निकली और उसी साल विजयादशमी को 'प्रताप'। 'प्रताप' को देखते ही 'एक भारतीय आत्मा' को उसमें कुछ अपनापन-सा जंचा। उन्होने 'प्रताप' पर अपनी सम्मति भेज दी। उसमें पता रखा—द्वारा पोस्टमास्टर, खंडवा। इसी पते से 'प्रताप' के यशस्वी सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का उत्तर आया, जिसमे 'प्रताप' को अपनाने का खास आग्रह था। पत्र द्वारा ही धीरे-धीरे घनिष्ठता में भी अभिवृद्धि होने लगी। अब एक-दूसरे को देखने की उत्कंठा जगी। संयोग से वैसा अवसर भी आ ही गया।

लखनऊ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में हुआ। 'प्रभा'-सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' भी उसमें शामिल हुए और 'प्रताप'-सम्पादक गणेशशंकर विद्यार्थी भी, किन्तु जबतक अधिवेशन होता रहा, दोनों की मुलाकात नही हुई। सम्मेलन दशहरे की छुट्टियो में हुआ था। उस साल विजयादशमी और मुहर्रम साथ-साथ पड़ते थे। मुसलमानो ने इस आकस्मिक घटना को आपस में मिलने का ईश्वरीय सन्देश समझा था। समूचा लखनऊ—चाहे हिन्दू का घर हो या मुसलमान का—दीपमालिका से आलोकित हो रहा था। उस अपूर्व अवसर का अपूर्व सुख लूटते, दो छोटी-छोटी मित्र-मंडली का नेतृत्व करते, दो युवक, दो दिशाओ से आकर लखनऊ के चौक पर पहुंचे। दोनो ने एक-दूसरे को देखा। एक ने कहा—"आप गणेशशंकरजी हैं ?" दूसरे ने उत्तर दिया—"आप 'एक भारतीय आत्मा' हैं ?" दोनों के गले में दोनों की बाहे थी—सलाम-वन्दगी, शिष्टाचार और आधुनिक सभ्यता के नियम-कानून एक ओर रह गये! उसी दिन से दोनों एक ऐसे सूत्र में बंधे कि एक की मृत्यु भी उस सूत्र को

नही तोड सकी। 'एक भारतीय आत्मा' की खूबी उनकी शोक-कविताए भी हैं। अपनी धर्मपत्नी, लोकमान्य, सप्रेजी, काग्रेस सत्याग्रह के शहीद बिहारी-युवक हरदेव सिंह आदि के निधन पर आपने जो पंक्तिया लिखी हैं, वे अमर हैं, अजर हैं। मैंने एक दिन कहा—"आपने गणेशजी पर कुछ नही लिखा !" आखे छलाछला उठी, बोले—"क्या कहू, आज भी लिखने बैठता हू तो आखो में दल-बादल उमड आते हैं और छाती की धडकन की बीमारी इस तरह उग्र हो जाती है कि कहा का लिखना ! देखिये, यदि कुछ दिनो के बाद भावावेश कम हुआ तो लिखने की कोशिश करुगा—चाहता तो जरूर हू।"

गणेशजी उस समय आपको खीचकर कानपुर ले गये। वह स्वय भी अब खडवा आने-जाने लगे। जब-जब आते, एक काम जरूर करते। इनके कागज-पत्र, किताबे-कापिया, चिट्ठी-पुर्जे खोज डालते और जहा भी इनकी कविताए पाते, अपने साथ ले जाते और जब इच्छा होती, छपवाते।

गणेशजी के इस अत्याचार से, यदि इसे अत्याचार कहा जाय तो, हिन्दी-संसार का जो उपकार हुआ, उसके विषय मे कुछ कहने की आवश्यकता नही, अन्यथा तो न जाने कितनी कविताए अप्रकाशित ही रह जाती या सड-गल गई होती !

× × ×

'एक भारतीय आत्मा' के जीवन मे इन्ही दिनो अचानक एक ऐसी घटना घटी, जिसने इनके समूचे जीवन की धारा ही बदल दी। यह घटना थी इनकी पत्नी की मृत्यु। जब आप चौदह वर्ष के थे, तभी आपका विवाह हो गया था। उस समय देवीजी की उम्र कुल दस वर्ष की थी। जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' अट्ठाईस वर्ष के युवक थे, उसी समय १९१४ के दिसम्बर मे, देवीजी का अचानक स्वर्गारोहण हुआ। पत्नी को ये कितना प्यार करते थे, या यो कहिये उस सुयोग्या पत्नी ने इनके हृदय पर कैसा स्थान बना लिया था, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इस चढती हुई जवानी मे ही पत्नी के चल बसने पर भी इन्होने दूसरी शादी नही की। नई शादी करने के लिए कुछ कम

आग्रह नही हुआ। स्वयं गणेशशंकरजी इनसे आग्रह करने के लिए आए थे, और गणेशजी के हठ को मानकर इन्होने 'हा' भी कर दी थी, किन्तु गणेशजी के कानपुर पहुचते-न-पहुंचते, एक लम्बी कविता 'एक भारतीय आत्मा' की. ओर से उन्हे मिली। उस कविता को पढकर फिर गणेशजी ने पुनर्विवाह की चर्चा तक नही चलाई।

स्वर्गीया पत्नी इनकी कविता की विन्दु ही वन गई। यही नही, इनके जीवन मे भी उन्होने अमिट छाप लगा दी। शरीर के सदा के लिए रोगी वन जाने के लिए भी मुख्यत यही घटना उत्तरदायी है—कई डाक्टरो और वैद्यो तक ने कहा। मानसिक रुझानो के समझने के लिए भी यह घटना कुञ्जी-रूप है। 'एक भारतीय आत्मा' को वच्चों से अपार स्नेह है। जितना ही छोटा वच्चा, उतना ही अधिक प्रेम। गोद के वच्चो या पैंजनिया वाले लल्लो के साथ तो दिन-के-दिन विता देना इनका स्वभाव हो गया है। यह स्नेह इस कोटि तक पहुच गया है कि कितने ही युवक तक इनको अपनी साहित्यिक मा समझते है।

इस मातृपद के पाने मे इनकी पत्नी की मृत्यु प्रधान कारण है। देवीजी वच्चो को वहुत प्यार करती थी। यद्यपि उन्हे सन्तान प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ, तथापि इससे मातृपद प्राप्त करने में उन्हें वाधा न हुई। पतिदेव मास्टर थे, अत. स्कूल के वच्चो पर अपने वात्सल्य की वर्षा करने का उन्हे अवसर मिला। उस मातृ-ममता की धरोहर, अपने प्रस्थान के समय, वह 'एक भारतीय आत्मा' को सौंप गई हैं। इधर इन्होने वच्चो पर वहुत-सी कविताए भी लिखी है, जो इनके मातृ-हृदय की सूचक तो हैं ही, हिन्दी-साहित्य के लिए भी अनूठी चीज है।

× × ×

द्रव्याभाव के कारण 'प्रभा' वन्द हो गई। किन्तु तवतक 'एक भारतीय आत्मा' की कीर्ति दूर-दूर तक फैल चुकी थी और प्रान्त के सार्वजनिक जीवन मे भी आप भाग लेने लगे थे। सन् १९१५ में जवलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति पटना के सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शिरोमणि साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा

वनाये गये थे। इस सम्मेलन को सफल बनाने मे इन्होने प० माधवराव सप्रे के साथ खूब उद्योग किया। इनकी इच्छा तो यहा तक थी कि यह सम्मेलन खडवा मे ही हो, किन्तु कई कारणो से ऐसा न हो सका। इसी सम्मेलन मे लोगो ने 'एक भारतीय आत्मा' को एक नये रूप मे भी देखा।

खडवा की साहित्यिक जाग्रति का एक रूप था वहा का 'नार्मदीय नाटक-समाज'। इस समाज के द्वारा शुद्ध साहित्यिक नाटको के अभिनय का आयोजन होता था। इसके पात्रो मे 'एक भारतीय आत्मा' भी काम करते थे। 'नार्मदीय नाटक-समाज' ने प्रान्त की ओर से होने वाले जबलपुर के इस साहित्यिक समारोह के अवसर पर एक मौलिक नाटक खेलने का आयोजन किया और खेला भी। उस नाटक का नाम था 'कृष्णार्जुन युद्ध'। कृष्ण और अर्जुन का प्रेम तो जगत्प्रसिद्ध है, फिर यह युद्ध कैसा ? यो, एक तो नाम ही आकर्षक, फिर समूचे नाटक की रचना, उसकी भाषा-शैली, उसके गानो की मधुरता, उसके कथानक की आधुनिकता—इन सब पर हिन्दी-संसार के कोने-कोने से एकत्र हुए साहित्यिक रसिक मन्त्रमुग्ध हो गये। "इसका रचयिता कौन है ?"—"कौन है इसका लेखक ?" का शोर रगमच पर ही मचने लगा। इसी समय एक दुबली-पतली, सीधी-सादी, गोरी-सी युवक-मूर्ति वहा खडी की गई। तालियो-पर-तालिया बजने लगी। हर्षध्वनि से रगमच गूज उठा। लोगो ने देखा, यह युवक एक शिल्पी कवि और एक कलाविद् पत्रकार ही नही है, एक कुशल नाट्यकार भी है। तबसे यह नाटक न जाने कहा-कहा और कितनी बार खेला जा चुका है। जबलपुर के उस साहित्यिक समारोह के समय ही दो-तीन दिन लगातार खेला गया। यदि रगमच की सफलता के साथ-साथ साहित्यिकता पर ख्याल किया जाय तो यह नाटक आज भी अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है।

किन्तु जिस समय 'एक भारतीय आत्मा' की बहुमुखी प्रतिभा को लोग विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखते थे, ठीक उसी समय उस घुन ने, जो पत्नी-वियोग के साथ ही इनके शरीर में प्रवेश करके धीरे-धीरे इनके शरीर को जर्जर कर चुका था, १६१६ में इन्हे शैयाशायी बना दिया।

इस समय से पूरे तीन वर्ष तक ये मृत्यु और जीवन के हिडोले पर वारी-वारी से झूलते रहे। बीमारी की भयकरता का अनुभव करके 'प्रताप' के सचालक श्री शिवनारायणजी मिश्र एव गणेशजी इन्हे कानपुर लिवा ले गये और उस बडे शहर में जितने भी सम्भव-उपचार हो सकते हैं, किये गए, किन्तु रोग समूल नष्ट नही हुआ। आम्लपित्त की शिकायत थी। शरीर का वजन घटते-घटते ६४ पौड तक आ पहुँचा। कानपुर मे भी इन्हे पूर्णतया स्वस्थ न होते देख इन्दौर के नामी चिकित्सक और साहित्य-प्रेमी डा० सरयूप्रसाद तिवारी इन्हे इन्दौर ले आये। इन्दौर मे एक वर्ष तक रहे। डाक्टर तिवारी के हाथो को यश मिला। 'एक भारतीय आत्मा' को मानो नवजीवन मिला।

इसी अर्से में इन्दौर में महात्मा गाधी के सभापतित्व मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। इस बीमारी की दशा मे भी इन्होने इन्दौर-साहित्य-सम्मेलन के कार्य मे यथाशक्ति सहायता दी थी।

× × ×

१६१६ में बीमारी से छुटकारा पाकर फिर 'एक भारतीय आत्मा' अपनी कर्मभूमि खडवा पधारे। उसी साल खंडवा मे मध्यप्रान्तीय राज-नैतिक और साहित्य परिषदे हुई। साहित्य-परिषद् मे एक प्रस्ताव पास किया गया कि इस प्रान्त से एक साप्ताहिक पत्र हिन्दी मे निकाला जाय, क्योकि तबतक सप्रेजी का 'हिन्दी-केसरी' बन्द हो चुका था।

इस अवसर पर डाक्टर मुजे भी खडवा पधारे थे। उन्होने 'एक भारतीय आत्मा' मे आग्रह किया कि नागपुर चलिए, वही से एक पत्र निकाला जायगा। उस समय के डाक्टर मुजे की गिनती लोकमान्य के प्रधान शिष्यो मे होती थी और अपनी ओजस्विता और तेजस्विता के लिए वे काफी मशहूर थे। इन्होने उनकी सलाह मान ली होती, यदि उसी अवसर पर प० विष्णुदत्त शुक्ल ने भी इनसे यह अनुरोध न किया होता कि जबलपुर चलिए—वही से एक पत्र निकाला जायगा। शुक्लजी की सादगी, निष्ठा, सौम्यता और सज्जनता ने इनको अधिक आकृष्ट किया और इन्होने उन्हीका साथ देना निश्चित किया।

आखिर एक आयोजन हुआ और लोगों ने 'कर्मवीर' का प्रथम

दर्शन किया। इसके सम्पादक 'एक भारतीय आत्मा' बनाये गए। 'कर्मवीर' ने इनकी सम्पादन-कला पर सफलता की मुहर लगा दी।

'कर्मवीर' इनको एक राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप मे भी जनता के सामने खीच लाया। यद्यपि अपने उग्र राजनैतिक विचारो और प० माधवराव सप्रे जैसे लोगो के सहवास के कारण सन् १६०८ से ही अपने घर के आस-पास पुलिसवालो का चक्कर लगाना और जब तब भद्दी आखमिचौनी-सा करना ये देखते आ रहे थे, किन्तु "अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।"

१६२० मे 'कर्मवीर' निकला—उस समय जबकि रौलेट-ऐक्ट के कारण समूचे देश का वायुमडल विक्षुब्ध हो रहा था। दक्षिण अफ्रीका का 'कर्मवीर' गाधी, 'महात्मा' गाधी के नाम से, देश की प्रशान्त क्राति की समिधा एकत्र कर रहे थे। 'कर्मवीर' ने इस क्राति का सादर स्वागत किया और मध्यप्रान्त के कोने-कोने मे इसके सन्देश को पहुचाने का भार अपने ऊपर ले लिया। 'कर्मवीर' की पक्तिया—चाहे लेख हो या कविताए—महाकोशल की प्रसुप्त जनता में जीवन और जागरण का मन्त्र फूक रही थीं। भला, नौकरशाही इसे कब बर्दाश्त कर सकती थी! सन् १६२१ के जून मे आखिर उसने अपना १२४ ए० (राजद्रोह) का ब्रह्मास्त्र छोडा। 'कर्मवीर' के सम्पादक को आठ महीने की कडी कैद की सजा दी गई। 'कर्मवीर' का सचालन अपने योग्य सहकारी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान को सौंप कर वे जेल चले गये।

१६२१ के उस प्रारम्भिक युग का जेल-जीवन आजकल के ए० और बी० डिवीजन का जेल-जीवन नही था। 'एक भारतीय आत्मा' की दुबली-पतली देह के भीतर निवास करने वाली आत्मा जितनी भी जाची जा सकती थी, जाची गई, किन्तु सोना तप कर कुन्दन बन कर निकला।

१६२२ मे अपनी सजा भुगतकर ये आये तब एक विचित्र वातावरण देखा। एक तो सन् १६२१ के आन्दोलन में इन्होने जैसी उम्मीद की, वैसा काम मध्यप्रान्त ने नही किया। इधर अब यहा स्वराज्य-पार्टी का दौर-दौरा था और जिन श्री राघवेन्द्र राव के हाथ

मे प्रान्तीय काग्रेस कमेटी थी, वही स्वराज्य-दल की मध्य-प्रान्तीय शाखा के कर्णधार बने हुए थे। सबसे सकट की बात तो यह हुई कि प० विष्णुदत्त शुक्ल का भी स्वर्गवास हो गया और 'कर्मवीर' का भाग्यसूत्र भी मि० राव के ही हाथो मे था। 'कर्मवीर' एक लिमिटेड कम्पनी के द्वारा सचालित होता था, जिसके पाच डायरेक्टर थे—प० विष्णुदत्त शुक्ल, दीवान बहादुर वल्लभदास, पं० गोविन्दलाल पुरोहित, ब्योहार रघुवीर सिंह और मि० राघवेन्द्र राव। जबतक शुक्लजी जीवित थे, तबतक वही इसके कर्ता-धर्ता थे, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद मि० राव की ही तूती बोलने लगी। मि० राव ने 'एक भारतीय आत्मा' से कहा कि आप 'कर्मवीर' का सम्पादन तो कीजिए, किन्तु स्वराज्य-दल का समर्थन करते हुए। महात्मा गाधी पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखने वाले, असहयोग और सत्याग्रह के कष्ट सहन करने वाले पथ को अपना जीवनोद्देश्य समझने वाले 'एक भारतीय आत्मा' को इस प्रतिक्रिया के मार्ग पर ले आना एक कठिन काम था। इन्होने एक बारगी 'नाही' कर दी। इस पर इनसे कहा गया कि इस्तीफा दे दीजिये, किन्तु इन्होने इसको भी अस्वीकार कर दिया। इनका कहना था कि इस पत्र के आदि-प्रतिष्ठाता थे पं० विष्णुदत्त शुक्ल। उन्हीके परामर्श से इनकी नीति निश्चित हुई थी, और वह थी काग्रेस-नीति। अब शुक्लजी तो नही रहे, किन्तु मैं अपने को उनकी स्वर्गीय आत्मा के प्रति जिम्मेदार समझता हूं, फलत उनकी नीति पर ही 'कर्मवीर' को चलाऊगा। यदि आपको यह नीति नापसन्द हो तो मुझे डिसमिस कर दीजिये। मि० राव भी तो एक कँडे के आदमी थे! ऐसा करना उनके लिए बाएं हाथ का खेल था—'एक भारतीय आत्मा' डिसमिस कर दिये गए।

जिस 'कर्मवीर' को ये शुक्लजी की धरोहर-रूप मानते थे, जिसके पौधे को इन्होने अपने कलेजे के खून से सीचा था, जिसके इर्द-गिर्द इन्होने मध्यप्रान्त के तरुणो के एक गिरोह को इकट्ठा कर लिया था, जिसके भविष्य के बारे में इन्होने कितने ही मनसूबे बाध रखे थे, उसी 'कर्मवीर' से आप डिसमिस करके निकाले गये! 'एक भारतीय आत्मा' का हृदय

उस समय चीख उठा—

"भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फल वाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया पलटा दी प्रबल उमंगों के बल में,
लो, हम तो चल दिये, नये पौधो, प्यारो, आराम करो;
दो दिन की दुनिया में आये, हिलो-मिलो कुछ काम करो।"

किन्तु इसके बाद ही आत्म-विश्वास की ध्वनि मे वे कह उठते है—

"पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहां आते हैं, जो ये बागीचे जाते,
झुकी टहनिया तोड़-तोड़ कर वनचर भी खा जाते हैं,
शाखामृग कंधो पर चढ़कर भीषण शोर मचाते है,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु जीवित हैं हां, हरियाले हैं;
भूले-भटके कभी गुजरना, हम वे ही फलवाले हैं।"

यहा यह कह देना अप्रासगिक न होगा कि 'एक भारतीय आत्मा' की अधिकाश कविताए उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ की ओर सकेत करती हैं। शायद इसी कारण कभी-कभी कुछ लोगो को उनमें दुरूहता की गन्ध मालूम पडती है। यदि उन प्रसगो का आभास मिल जाय तो वे कविताए सरल और सुबोध हो जाय।

'कर्मवीर' ने 'एक भारतीय आत्मा' के सम्पादकत्व मे सन् १६२१ के असहयोग आदोलन मे जो काम किया, सो तो किया ही, उसके उस काल के कामो मे एक प्रसिद्ध काम है रतौना मे कसाईखाना बनाने वाले आयोजन को बिल्कुल व्यर्थ कर देना। मध्य-प्रान्त के देहात मे किये जाने वाले इस हत्याकारी आयोजन को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना देना और आखिर उसे बन्द कर देने के लिए प्रान्तीय सरकार को बाध्य कर देना, 'कर्मवीर' जैसे एक देशी भाषा के पत्र के लिए उन दिनो कम गौरव की बात नही थी।

× × ×

'कर्मवीर' छोड़ने के बाद 'एक भारतीय आत्मा' होशगाबाद के देहात

में अपने घर चले आये और वही रहने लगे। कुछ ही दिनो के वाद सन् १९२३ मे, नागपुर का झंडा-सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। भला, ऐसे अवसर पर ये कव चूकने वाले थे—फिर सेठ जमनालालजी की वुलाहट भी आ गई। यो तो ये सेठ जमनालालजी के सहचरो मे सदा रहे थे, और सेठजी से सदा इनको प्रेरणा मिलती रही थी, किन्तु यह झडा-सत्याग्रह तो स्वय अपनी प्रेरणा रखता था। ये उसी दम चल पडे। किन्तु इनके नागपुर पहुंचते-न-पहुचते नागपुर-सत्याग्रह के सचालन मे लीन प्राय सभी नेता एक-एक करके गिरफ्तार कर लिये गए। मध्य-प्रान्तीय सरकार तुली हुई थी कि येनकेनप्रकारेण सत्याग्रह को दवा दिया जाय, किन्तु नेताओ की सगठन-वुद्धि तथा विहार, युक्तप्रान्त, मदरास, गुजरात आदि दूर-दूर प्रान्तो की जनता की वलिदान-भावना के कारण सरकार को झुकना पड़ा और अहिंसात्मक सग्राम की विजय हुई। इस विजय-लाभ में 'एक भारतीय आत्मा' के कर्तृत्व और लेखनी का एक अच्छा भाग था।

इसी समय फतहपुर में एक राजद्रोही भाषण देने के अभियोग में 'प्रताप' के प्रतापी सम्पादक श्री गणेशशकर विद्यार्थी गिरफ्तार कर लिये गये, और उन्हे एक वर्ष की सजा हुई। उन्होने 'प्रताप' का सम्पादन करने के लिए 'एक भारतीय आत्मा' का आह्वान किया। जवतक गणेशजी वापस न आ गये, इन्होने 'प्रताप' के सम्पादन-कार्य को भली-भाति सम्पन्न किया। इधर गणेशजी ने एक मासिक पत्रिका भी निकालना शुरू कर दिया था—अपने अन्यतम मित्र 'एक भारतीय आत्मा' की अस्तगत पत्रिका 'प्रभा' के ही नाम पर। गणेशजी के हाथो मे जाकर 'प्रभा' कितनी चमकी, यह हिन्दी के उन दिनो के पाठको से छिपा नही है। हिन्दी की अपने ढग की वह अनूठी मासिक पत्रिका थी। राजनीति और साहित्य का उतना सम्मिश्रण अन्यत्र देखने मे नही आया। 'प्रताप' के सम्पादक होकर आने के वाद 'प्रभा' का 'झडा-अक' 'एक भारतीय आत्मा' की ही देख-रेख मे निकला। ऐसी चीज़ अव कहा देखने को मिलती है!

जव गणेशजी जेल से आये, तव उन्होने चाहा कि 'एक भारतीय

आत्मा' 'प्रताप' के ही परिवार मे रहे और मिल-जुल कर 'प्रताप' और 'प्रभा' को चलाया जाय, किन्तु ये सब छोडछाड कर मध्यप्रान्त की तलहटी मे आ धमके। आज भी 'एक भारतीय आत्मा' प्राय कहा करते हैं कि साहब, आप लोगो की गगा की वह समतल लम्बी चादर-सी एकरस फैली हुई भूमि भी क्या रहने की चीज है ! उफ्, वह कितनी गद्यात्मक है। देखिये, हमारा प्रदेश—नर्मदा और बेतवा जैसी धमा-चौकडी मचाने वाली नदियां, विन्ध्या और सतपुडा की वे नीची-ऊची तलहटिया, पथरीली, जगली जमीन—जीवन और कवित्व मानो यहा क्रीडा करते हैं !

× × ×

मध्य-प्रान्त मे आकर सर्वप्रथम इन्होने झडा-सत्याग्रह की रिपोर्ट तैयार की। तबतक 'कर्मवीर' मि० राघवेन्द्ररावजी के हाथो मे जाकर बन्द हो चुका था। अब इनको यह धुन सवार हुई कि उसे फिर निकाला जाय। प० माधवराव जी सप्रे इन्हे बाध्य करने लगे कि 'कर्मवीर' निकालना ही चाहिए। यद्यपि सभी प्रकार के साधनो का अभाव था, तथापि असम्भव को सम्भव बनाने वाले मनसूबे का अभाव तो नही था। इन्होंने प्रान्त मे दौरा शुरू किया। 'कर्मवीर' का बन्द होना सबको अखर रहा था—एक जोरदार सुसम्पादित पत्र का अभाव भी लोग अनुभव कर रहे थे। अत. प्रान्त के लोगो ने इनके इस आयोजन के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति दिखलाई और सन् १९२५ की ४ अप्रैल (रामनवमी) से 'कर्मवीर' का पुन प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, किन्तु इस बार वह जबलपुर से न निकलकर खडवा से निकला।

१९२५ से १९३० तक 'कर्मवीर' मजे मे चलता रहा। हा, इसी बीच इन्दौर के भूतपूर्व नरेश और मुमताज-सम्बन्धी आन्दोलन चला। इस आन्दोलन में 'कर्मवीर' ने काफी भाग लिया। खडवा से निकलने के कारण मध्य-भारत के देशी राज्यो के मसलो की ओर 'कर्मवीर' का ध्यान इस बार विशेष रूप से था। उसको अपनी छोटी उम्र में ही मध्य-भारत के जैसे राज्य मे लोहा लेना पडा, जो सभी राज्यो में प्रमुख स्थान रखता था तथा सब प्रकार के साधनो से सम्पन्न

था; किन्तु 'कर्मवीर' अपने व्रत पर डटा रहा। उसका इन्दौर-राज्य मे प्रवेश कानूनन वन्द किया गया। यही नही, वह जिनके पास पाया जाय, उन्हे दड देने की भी व्यवस्था की गई। इससे भी उसके स्वर में कोई परिवर्तन न हुआ, तव जिन राजनैतिक दावपेचो से काम लिया गया, उसका यहा जिक्र न करना ही उचित होगा।

इतने में १९३० का मस्ताना साल आ गया। फिर 'एक भारतीय आत्मा' की पुकार हुई और मध्य-प्रान्तीय सरकार ने एक ही दिन में मध्य-प्रान्त के जिन पाच नेताओ को गिरफ्तार कर लिया, उनमें एक थे 'एक भारतीय आत्मा'। पाच-छ हफ्तों के वाद 'कर्मवीर' भी वन्द हो गया।

१९३१ के मार्च मे जेल से छूटे, तो 'कर्मवीर' के रास्ते में एक विचित्र कठिनाई देखी। तो क्या 'कर्मवीर' वन्द रहेगा? वृद्ध हड्डियो मे एक वार फिर गर्मी आई और ये पुन. भिड़ पड़े। ४ अप्रैल से फिर 'कर्मवीर' का प्रकाशन आरम्भ कर दिया गया, इधर पच्चीस वर्षो से वह एक स्वावलम्वी पत्र के रूप मे प्रान्त की और हिन्दी की सेवा कर रहा है।

इन सतत् संघर्षो ने चतुर्वेदीजी की काया को जर्जर वना दिया है। अव राजनैतिक संघर्षो मे पडने की न इनकी प्रवृत्ति रही, न वह शक्ति। किन्तु इनका प्रोत्साहन सदा तरुण पीढी को मिलता रहा है और आज भी मिल रहा है। हिन्दी-संसार ने इन्हे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति वना कर तथा चादी से तौल कर अपना सम्मान इनके प्रति प्रकट किया। इनकी स्वर्ण-जयन्ती भी उसने धूमधाम से मनाई। इनका प्रोत्साहन लेने के लिए अनेक लेखक और कवि सदा इनके श्रीचरणो में पहुंचा करते है और इन्हे वे अपने नाम के प्रथम अक्षर 'मा' के ही अनुरूप ही मानते और दुलारते रहते हैं!

: १३ :

भूख और कला

वॉन गौग यूरोप का ऐसा कलाकार हुआ है, जो जिन्दगी भर तिरस्कार पाता रहा, किन्तु मरने के पचास वर्ष वाद ही जिसकी प्रसिद्धि इतनी वढी कि जिन चित्रो को उसने रुपये-आने मे बेचा था, वे आज हजारो-लाखो में विकते हैं। इस ऊचे कलाकार का जीवन अनोखा रहा है। इर्विंग स्टोन ने 'लस्ट फॉर लाइफ' नाम से उसकी वैसी ही शानदार जीवनी भी लिख डाली है।

बेचारा कलाकार! जिन्दगी-भर कैसी परेशानियो मे रहा! चारो ओर से लाछना और अपमान ही पाता रहा। सदा अभाव मे रहा। किन्तु कला के प्रति कैसी अटूट निष्ठा! चित्र-पर-चित्र खीचता रहा, खीचता रहा। और जिस विजय की आकाक्षा की, उसे मिलकर रही—हा, जीवन में नही, मृत्यु के वाद।

कभी-कभी उसकी व्यथा पर आखें भर आती हैं। अभी दो स्त्रियो से प्यार के वदले पत्थर पाते उसे देख चुका हू। अगरेजी युवती ने उसे ठुकराया था, उसकी चचेरी वहन ने भी उसे ठुकरा दिया।

इर्विंग ने उसके मानसिक कष्टो का कैसा सजीव वर्णन किया है! जव उसकी चचेरी वहन ने उसे ठुकराया, उसने अपने प्रेम का सबूत उसके वाप के सामने किस तरह दिया?—मोमवत्ती पर हाथ रख। त्वचा जली, मास जला और वह निर्निमेष खड़ा रहा! उफ!

उसमे एक स्थल ऐसा आया है, जहा वॉन गौग कई दिनो से भूखा रहा है। वह भूख से व्याकुल विछौने पर लेटा है। ऐसा वह प्राय किया करता। किन्तु, फिर सोचा, एक सज्जन से वह कुछ पैसे उधार क्यो न माग ले। जहा दूसरे लोग उसकी चित्रकला पर नाक-भौ सिकोडते, उस सज्जन ने एकाध वार तारीफ कर दी थी। जव उनके यहा पहुच कर उसने अपना अभिप्राय कहा तो वह चित्रकार सज्जन वोल उठे—

"नही बच्चे, नही, तुम गलत आदमी के पास आये—ससार मे सबसे गलत आदमी के पास। मै तुम्हे एक छदाम भी नही दे सकता।"

"क्या आपके पास फालतू पैसे नही हैं ?"

"हैं क्यो नही ! क्या मैं तुम्हारी तरह नौसिखिया हू कि जो पैसे न होगे ! बैंक मे इतना जमा कर दिया है कि तीन जन्म तक खा सकता हूं।"

"तो मुझे कुछ रुपये क्यो नही दे देते ? मेरी हालत बहुत बुरी है। घर मे रोटी का एक टुकडा तक नही है !"

वह सज्जन आनन्द से हाथ मलने लगा—"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। यही तो चाहिए। तुम्हारे लिए इसी की तो जरूरत है। अब तुम चित्रकार बन सकोगे।"

वॉन गौग दीवार से सट गया, वह बिना सहारे के खडा भी नही रह सकता था। फिर पूछ बैठा—"भूख में ऐसी क्या खूबी है, महाशय ?"

"तुम्हारे लिए सबसे अच्छी चीज यही है। यह तुम्हे कष्ट देगी, सतायगी, छटपटायगी।"

"मैं कष्ट सहू, आप ऐसा क्यो चाह रहे हैं ?"

"क्योकि तब तुम सच्चे कलाकार बन सकोगे। जितना कष्ट पाओ, उतना ही शुक्र मनाओ। इसी धात से सच्चे कलाकार का निर्माण होता है। खाली पेट भरे हुए पेट से कही बेहतर है। टूटा हुआ दिल आनन्द मे रमे दिल से कही उत्तम है। इसे सदा याद रखना, वॉन गौग !"

"ये बेहूदी बातें है, क्या आप ऐसा नही समझते हैं।"

चित्रकार सज्जन ने अपनी कूची उसकी ओर हिलाते हुए कहा—"जिसने पीड़ा नही उठाई, वह चित्रण किसका करेगा ? आनन्द तो एक पाशविक वृत्ति है। वह बैल को चाहिए या व्यापारी को। कलाकार तो पीड़ा मे पलता है, पीडा में बढता है। यदि तुम्हे भूख मिलती है, निराशा मिलती है, दुर्भाग्य मिलता है तो समझो, भगवान् तुम पर खुश हैं।"

"गरीबी बरबाद कर देती है, पीस डालती है।"

"हां, यह पीस डालती है, किसको ? जो कमजोर हैं, उनको। जिसमे हौसला है, वल है, उसे यह वरवाद कर नही सकती। यदि गरीवी तुम्हे पीस दे सके तो तुम कमजोर हो और तुम्हें नष्ट ही हो जाना चाहिए।"

"और तव भी आप मेरी मदद को हाथ नही वढायगे ?"

"नही। यदि तुम अपने को संसार का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार समझो तव भी नही। यदि भूख किसी को मार सके तो उसे वचाने का कोई मतलव नही। संसार उन कलाकारो का है, जिन्हे न भगवान, न शैतान मार सके, जवतक कि वे अपनी उन सारी चीजो को दे न ले, जिन्हे देने को वे भेजे गए हैं।"

"किन्तु मैं तो वर्षो से भूखो मर रहा हूं। मेरे सिर पर कभी छत नही रही। वर्षा मे, वर्फ में मैं नंगे वदन, खाली पाव घूमता रहा हू, जाड़े से कांपता, ज्वर से कांपता, कोई देखनेवाला नही, कोई पूछनेवाला नही। कष्टो से जो कुछ सीखना था, मैं सीख चुका।"

"नही, वच्चे, नही। अभी तो तुमने कष्ट की ऊपरी सतह ही कुरेदी है। अभी तो तुमने शुरू ही किया है मैं कहता हूं, पीड़ा से अधिक शाश्वत वस्तु ससार मे और कुछ नही है। मैं कहता हू, जाओ, भागो, दौडो, घर पहुचकर झटपट कूची पकडो। पेट में जितनी ज्यादा कुलवुलाहट रहेगी, उसी फुर्ती से तुम्हारे हाथ चलेंगे।"

"और उतनी फुर्ती से मेरी चीजो को लोग रद्दी के टोकरे मे डाल देंगे !"

चित्रकार सज्जन ठठाकर हँस पड़े—"हा-हा, वे रद्दी के टोकरे में डाली जायगी। यही तो चाहिए। इसीमें तो तुम्हारी भलाई है। इससे तुम्हारा कष्ट और वढेगा। तव तुम्हारा अगला चित्र पहले से अधिक अच्छा वन पड़ेगा। यो जव वहुत दिनो तक तुम भूखे रहोगे, कष्ट उठाओगे, गालिया सुनोगे, उपेक्षा पाओगे, तव कही वर्षो के वाद वह समय आ सकेगा—याद रखो आ सकेगा, आयगा ही, ऐसा मैं नही कह रहा हूं—कि तुम्हारे चित्र संसार के महानतम कलाकारो के चित्रो की वगल में स्थान पा सकेंगे।"

"या आपके चित्रो के साथ..."

"यह भी कह ला। किन्तु यदि मै आज तुम्हे पैसे दे देता हूं तो मै तुम्हारे लिए वह मार्ग बन्द कर देता हूं, जो तुम्हे अमरता की ओर ले जायगा।"

"अमरता की ऐसी-तैसी ! मै तो अभी और यहा के लिए चित्रण करना चाहता हूं और भूखे पेट चित्रण कर नही सकता।"

"बेवकूफी की बात ! जितने भी सर्वोत्तम चित्र बने है; सब खाली पेट से ही बनाये गए हैं। जब अंतड़ियां भरी होती हैं, वे कुछ दूसरे ही चित्र बनाती हैं।"

कहते हुए वह सज्जन फिर मुस्करा पडे।

मेरा विश्वास है कि वॉन गौग की जीवनी की ये पक्तिया पढकर निराश और हताश लेखको को अपने पर, अपनी रचना पर, आस्था होगी और वे अपनी कठिनाइयो से जूझते रहेगे, यह समझकर कि बड़े-से-बड़े कलाकार को भी ऐसी-ऐसी मुसीबतो का सामना करना पडा है, जिनके सामने उनकी मुसीबते हल्की हैं, तुच्छ हैं। जिनमें मौलिकता है, उन्हे दुनिया देर से पहचानती है। फलतः उन्हे अधिक कठिनाइयो का सामना करना ही पड़ता है !

: १४ :

एक साहित्यिक सन्त

मैंने एक जगह लिखा है, जिसमें साधुता नही हो, उसे साहित्यिक मत मानो। साधुता और साहित्यकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।' साधु से मेरा मतलब यह नही कि वह कफनी ओढे हो, धूनी रमाये हो, संसार से अलग-थलग हो। साधुता के साथ में सरलता, सहृदयता, निश्छलता, परदुख-कातरता, परोपकारिता आदि गुणो को सम्बद्ध मानता हूँ। साधुता के साथ साधना तो सलग्न है ही।

यह हमारा सौभाग्य है कि इस युग मे हमारे वीच एक ऐसे साहित्यिक हैं, जिन्हे हम एक साहित्यिक सन्त विना हिचक के कह सकते हैं। वह हैं भाई शिवपूजनसहायजी, जिन्हे नई पीढ़ी के लोग आदर से 'आचार्य शिवपूजनसहायजी' कहते हैं और हम सिर्फ 'शिवजी' कह कर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हैं।

विहार के साहित्यिको की जो पीढ़ी आज हिन्दी-सेवा में तत्पर है, उसके निर्माण मे शिवजी का कितना हाथ है, जव कभी इतिहास इसका उल्लेख करेगा, लोग चकित हो जायगे। यह तपस्वी अपने को सदा पीछे रखकर लोगो को वढाता रहा—उन्हे संवारता, सजाता रहा, उनकी पीठ ठोकता और आगे वढने को प्रेरित करता रहा। विनय उनके रग-रग में भरी है, हिन्दी-सेवा उनके जीवन की सास है! वासठ वप की उम्र में भी, कई सांघातिक रोगो के कारण, अपनी जर्जर काया को लेकर जो आज भी सरस्वती की सेवा और आराधना में दिन-रात लगा है—उसका चरित्र-चित्रण कर किसी की भी लेखनी अपने को धन्य मान सकती है! मै इन पंक्तियों को लिखते समय आनन्द से पुलकित हो रहा हूँ।

शिवजी एक गरीव परिवार से आये हैं। एक वार मैंने उनसे वच्चों के लिए अपने वचपन की घटना लिख देने का आग्रह किया। उन्होंने

उसका प्रारम्भ किया था, अश्वत्थामा के बचपन की घटना से, जब उसकी माँ, द्रोणाचार्य की पत्नी, दूध के लिए जिद करने पर, उसे आटा घोलकर पिला देती थी। शिवजी जिद्दी कभी नही रहे, किन्तु उनकी माँ ममता-वश अश्वत्थामा की माँ का ही अनुसरण करती थी। महीन पिसे हुए चावल के घोल को शिवजी दूध की तरह बड़े चाव और ललक से पी जाया करते थे।

बचपन से ही शिवजी वडे भोले थे। उनकी माँ उन्हे 'भोलानाथ' कहकर पुकारती थीं। गरीबी के बावजूद बालक शिवजी को वह बड़े लाड़-प्यार से पालती। शिवजी मे बचपन से ही प्रतिभा की झलक दिखाई पडती थी। किन्तु गरीबी तो वह चक्की है, जिसमें बड़ी-बडी प्रतिभाएं पिसती रही हैं। शिवजी ने थोडी ही शिक्षा प्राप्त की और परिवार के भरण-पोषण की दृष्टि से बनारस जाकर कचहरी मे काम करने लगे। एक गोरा-चिट्टा, खूबसूरत, हसमुख किशोर कचहरी के अहाते में किसी वृक्ष के नीचे टाट बिछाकर उसपर कागज-पत्र बिखराये बैठा किसी मुअक्किल की प्रतीक्षा मे है, जो दो-चार आने पैसे देकर अपना दस्तावेज उससे लिखवाये—आज के आचार्य शिवपूजनसहाय, (जिनके चरणों के निकट वडे-वडे विद्वान् बैठने में गौरव अनुभव करते हैं) की इस मूर्ति की कल्पना भी भावमुग्ध बना देती है !

जीविका की खोज में इधर-उधर भटकते रहने पर भी विद्या का व्यसन नही गया। किसी तरह मैट्रिक पास कर अपने शहर—आरा (बिहार)—मे एक स्कूल में वह मास्टर बने।

आरा उन दिनो बिहार में साहित्यिक जागरण का केन्द्र था। वहा की नागरी प्रचारिणी सभा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से प्रतिद्वद्विता करती थी। शिवजी ने सभा से सम्पर्क स्थापित किया और उसके विशाल पुस्तकालय की सहायता से अपने ज्ञान की वृद्धि में तत्पर हुए। अन्ततः उस पुस्तकालय के वह पदाधिकारी भी बनाये गए। महा-महोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा, तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रथम जीवनी-लेखक बाबू शिवनन्दनसहाय, 'सौन्दर्योपासक' नामक मौलिक उपन्यास के रचयिता बाबू व्रजनन्दन सहाय, 'मनोरंजन' के

सम्पादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि महान् साहित्यिक आचार्यों की संगति का लाभ उन्हे मिलने लगा। शिवजी के हृदय मे, अंतःसलिला फल्गु की तरह जो साहित्य-गंगा तरगित हो रही थी, वह अनायास प्रत्यक्ष हुई। उनकी रचनाएं पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने लगी।

उन दिनो गया से 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका प्रकाशित होती थी, जिसके सम्पादक थे लाला भगवानदीनजी। 'लक्ष्मी' की प्रायः 'सरस्वती' से टक्कर हो जाया करती थी। लालाजी हिन्दी के प्राचीन साहित्य के आचार्यों में से थे। 'लक्ष्मी' में हिन्दी की प्राचीन कविताओं की वानगी भी प्राय. मिला करती। मै उसका, अपनी किशोरावस्था मे भी, नियमित पाठक था। उसमें शिवजी का एक लेख मैंने पहले-पहल पढा। शीर्षक था—"हमारे हिन्दी के कवियो ने कमाल किया है!" कविताओ का चुनाव तो चुटीला था ही, उसकी व्याख्या में मैंने एक नवीन शैली पाई। शब्दावली क्या थी, मोतियो की लडी! मोती ही की तरह चमकते-दमकते शब्द, जो भाव-सूत्र मे इस तरह पिरोये गये थे कि मन को मोह लेते थे। मै उस लेख से ही शिवजी के प्रति आकृष्ट हो गया था, किन्तु क्या उस दिन यह सोच सका था कि यह आकर्षण आजीवन का हार्दिक वन्धन वन जायगा!

और, सयोग ऐसा घटा कि मैं कई सप्ताहो के लिए उनके सानिध्य का सुअवसर पा सका। विहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का सगठन हो चुका था। मै उसका सहकारी मंत्री वनाया गया था। वेतिया मे उसका द्वितीय अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति थे सूर्यपुराधीश राजा राधिकारमणप्रसादसिंह। सम्मेलन ने अपना प्रकाशन प्रारम्भ करने का निर्णय किया और उसके लिए प्रथम पुस्तक देने और छपाने का भार लिया राजासाहव ने ही। 'तरंग' नाम से वह पुस्तक निकली। उस पुस्तक की पाण्डुलिपि लेने के लिए मै राजासाहव की सेवा में आरा पहुंचा। वही शिवजी से साक्षात्कार हुआ। शिवजी की उन दिनो की तस्वीरें मेरी आंखो में आजतक झूल रही हैं!

गोरा-चिट्टा चेहरा, घुंघराले काले वाल उसकी शोभा और आभा द्विगुणित कर रहे थे। वालो को इस तरह सवारते कि उसका एक गुच्छा

चमचमाते ललाट पर लटका होता। रसीली आंखे, जो हँसी में सदा उनके होठो से प्रतिद्वंद्विता करती। बहुत लोगो को पान खाते या चवाते देखा है, किन्तु शिवजी के होठों पर पान की जैसी लाली खिलती, वैसी दूसरो के होठो पर खिलती, बहुत कम पाई है। बाते करते-करते खिल-खिलाकर हँस पड़ते, ताम्बूल-रजित उनकी दंतपंक्ति कोंध उठती! कितने चुटकुले याद, कितनी कविताएं कण्ठस्थ! संध्या को किसी-न-किसी मित्र के घर चण्डाल-चौकड़ी जुटती, भंग छनती, मिठाइया उड़ती! फिर हम लोग काव्य-गंगा मे अवगाहन करने लगते। शाम को जो बैठते तो आधी रात के बाद ही उठते! एक दिन हम छत पर बैठे थे। लगता था, काव्य-गंगा आकाश-गंगा से जा मिली हो!

फिर असहयोग का युग आया। मैंने पढ़ना छोड़ा, शिवजी ने पढ़ाना छोड़ा। बारीक कपड़े के कुर्ते और पल्ले की टोपी की जगह खादी का लिबास। किन्तु वह रुखडा लिबास भी उनपर कितना फबता! उसी समय उनका 'बिहार का बिहार' निकला। जब मैंने 'बिहारी सतसई' की टीका लिखी तो उसके लिए उन्होने 'सतसई का सौष्ठव' शीर्षक से भूमिका लिख दी।

आरा में एक मारवाड़ी युवक थे, नाम था हरद्वारप्रसाद जालान। धनी आदमी थे, साहित्य की ओर पूरी रुचि थी। असहयोग के बाद उन्होने शिवजी के सम्पादकत्व में 'मारवाडी-सुधार' नामक मासिक पत्र निकाला। यो तो वह मासिक पत्र मारवाड़ी समाज से सम्बन्ध रखता था, किन्तु जिसके सम्पादक शिवजी हो, उस पत्र में साहित्यिकता का पुट न हो, यह कैसे सम्भव था! 'मारवाड़ी-सुधार' साहित्यिको का भी गलहार था। बहुत सुन्दर छपता। शिवजी छापे की अशुद्धियो के शत्रु हैं। उनके द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओ मे सदा यह खूबी रही है कि उनमे छापे की अशुद्धियाँ नही रह पाती। 'मारवाड़ी-सुधार' छपाई और शुद्धता की दृष्टि से भी अनुपम था।

'मारवाड़ी-सुधार' के सिलसिले में ही शिवजी कलकत्ता आने-जाने लगे। वहां स्व० महादेवप्रसाद सेठ और मुशी नवजादिकलालजी से उनकी घनिष्ठता बढ़ी और इस घनिष्टता का सुन्दर फल था—'मतवाला'।

'मतवाला'—हिन्दी का वह हास्यप्रधान सासाहिक, जिसके जोड़ का पत्र क्या अवतक निकल सका? 'मतवाला' ने सारे हिन्दी-ससार मे धूम मचा दी थी। उसके मुखपृष्ठ पर निरालाजी की कविताए छपती! मुखपृष्ठ की उन कविताओ ने हिन्दी मे एक नये युग के आरम्भ की सूचना दी। 'मतवाला' की पक्ति-पक्ति से हास्य और विनोद की अजस्र धारा फूटती। उसकी 'चलती चक्की' के पाटो के बीच जो पडा, वह गया। देश की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक घटनाओ पर ऐसे चुटकुले छपते कि वे तुरन्त ही ज़बान-ज़बान की चीज बन जाते। 'मतवाला' किसी को क्षमा न करता और ऐसा कौन था जो उसकी 'चाबुक' की चोट से तिलमिला न उठता! उसके हर अंक को लोग घोल-कर पी जाना चाहते। उसके आगामी अंक की प्रतीक्षा की जाती। एजेंटो के वडल खुले नही कि लूट मच जाती। एक-एक के हाथ से छीन-कर दस-दस पढते!

शिवजी 'मतवाला'-मडल मे रास रचा रहे थे, मै विहार के टुट-पुजिये पत्रो के दफ्तरो मे अपनी ठेलागाड़ी घसीटे जा रहा था कि अचानक में दमे के रोग से आक्रान्त हुआ और मरते-मरते वचा। अपने देहात के गाव से ही मैंने शिवजी को पत्र लिखा। तुरन्त ही उनका कार्ड मिला। साधारण पोस्टकार्ड पर लाल रोशनाई से उन्होने लिखा था कि पत्र पाते ही पटना आओ, अमुक स्थान पर पहुंचकर इस तरह मुडना और सामने थोडी दूर जाकर अमुक का नाम पूछना। तुम्हारे लिए एक काम सोच लिया है, वही वताऊगा। शिवजी के एक दोस्त थे, जो पटना से 'गोलमाल' नामक एक हास्यप्रधान-पत्र निकालना चाहते थे। मैं पटना पहुँच कर शिवजी से मिला। उन्होंने उसके लिए सारे शीर्षक ठीक कर दिये, पहला सम्पादकीय लिख दिया और कलकत्ता लौट गये।

मैंने उनके वताये रास्ते पर चलना शुरू कर दिया। हर सप्ताह वह एक लम्बा पत्र भेजते, प्रेस मैटर लिखने के लिए कटे लम्बे-लम्बे स्लिप पर, लाल रोशनाई से। कोई-कोई पत्र सात-आठ पृष्ठो के होते। पत्र के साथ ही 'गोलमाल' में पिछले अंक को उसी लाल रोशनाई से गोद-गाद कर भेज देते और पत्र में बताते कि कहा मैंने भूल की, कहाँ हल्की

चीज गई, कहां फालतू चीज दी गई। मेरी त्रुटियों को ही न वताते, मुझे उत्साहित करने के लिए वड़ी शावासी देते और मेरे उज्ज्वल भविष्य का सुनहला स्वप्न दिखाते ! मैं कह सकता हूं, उन पत्रों से ही मैंने सम्पादन और लेखनकला का गुरुमुख ज्ञान प्राप्त किया और उनके उत्साहप्रद वाक्यों ने ही मुझमें वह आत्मविश्वास भर दिया कि आज जहां हूँ, उसे शिवजी का प्रसाद मानता हूं !

'मतवाला'-मंडल से शिवजी 'माधुरी' में गये। नवलकिशोर प्रेस की साधन-सम्पन्नता और श्री दुलारेलाल भार्गव की कर्मठता के कारण उन दिनो 'माधुरी' हिन्दी की सवसे प्यारी पत्रिका वन गई थी। शिवजी के सहयोग ने 'माधुरी' में मिश्री घोल दी; किन्तु शायद विधाता को यह सहयोग पसन्द न था। लखनऊ मे हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। शिवजी किसी प्रकार जान वचाकर अपने घर पहुँचे, किन्तु कितनी अमूल्य निधियाँ चिट्ठियो और पाण्डुलिपियों के रूप मे गँवाकर ! लगता था, शिवजी सदा के लिए टूट गए !

शिवजी को उनके मित्र फिर घसीटकर कलकत्ता ले गये। इधर मैं लहरियासराय पहुँचा और वहाँ से कई साहित्यिक पुस्तक-मालाएं निकालना प्रारम्भ किया। फिर 'वालक' निकालने की योजना वनाकर कलकत्ता पहुँचा। स्वभावतः ही सोचा, शिवजी से सलाह-मशविरा करलूं, वही चित्रादि वनवाऊं और सम्भव हो तो वही छपवाऊं भी। 'मतवाला' तव भी प्रकाशित हो रहा था, किन्तु उसका मंडल विखर चुका था, वह श्रीहीन हो चला था। अकेले शिवजी उसके वोझ को किसी तरह ढो रहे थे। हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी से 'उपन्यास-तरंग' नामक एक मासिक पत्र निकलता, जिसके सम्पादक के स्थान पर शिवजी का नाम रहता। कलकत्ता की एक गन्दी गली में एक छोटा-सा कमरा लेकर शिवजी रहते—उनकी रुग्ण पत्नी भी साथ थी, जो इस अवस्था में भी घर के सारे काम-काज अपने हाथों सम्हालती थीं।

मैं शिवजी को इस स्थिति में देखकर दंग रह गया। होठो पर वही मुस्कान, किन्तु चेहरे की वह चमक कहां गई ? अव भी खिलखिलाकर हँसते, किन्तु उस हँसी में वह आंतरिक उल्लास कहां ? काम का वोझ

इतना कि सवेरे से शुरू करते तो दो-दो वजे रात तक मोमवत्ती जला-जला कर खटते रहते। मैंने मन-ही-मन तय किया, शिवजी का इस स्थिति से उद्धार करूँगा। 'वालक' का पहला अक निकालकर लहरियासराय लौटा और हिन्दी-पुस्तक-भण्डार के सचालक से वातें की। 'वालक' की छपाई का प्रवन्ध काशी के ज्ञानमडल प्रेस मे किया और शिवजी को जैसे-तैसे मनाकर काशी ले आया।

काशी के वे दिन ! काल-भैरव के ऊपर का वह दोतल्ला मकान—हमारे हँसी-ठहाके से सारा मुहल्ला गूंजता। प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, लाला भगवानदीनजी, हरिऔधजी, रामदास गौड, रामचन्द्र वर्मा आदि वुजर्गों की संगति के साथ वेढव, सुमॅन, लक्ष्मीनारायण मिश्र, मनोरजन, उग्र, शान्तिप्रिय आदि नौजवानो की टोली का सुखद साहचर्य ! शिवजी फिर खिलने लगे। भाभी चल वसी तो शिवजी की नई शादी कराई। शिवजी की वह वरात ! काशी की गहरी वूटी छानकर डगमग पैरो से हमने अपने अनुपम दूल्हे के साथ वरात दरवाजे लगाई, अटशट वका किये, जिसका फल यह हुआ कि विदाई के समय मुश्किल से अपनी खोपडी वचा सके !

हा, शिवजी को यथार्थत. पार्वती मिली। उन्होने उनके घर को ही नही सम्हाला, उन्हे दो पुत्रिया और दो पुत्र दिये ! यह तीसरी भाभीजी भी अव नही रही, किन्तु शिवजी का घर तो भरा-पूरा छोड ही गई हैं !

लहरियासराय से हटकर मैं पटना आया और 'युवक' के साथ ही राजनीति मे पूरा रग गया, किन्तु शिवजी वही रह गए। फिर मेरा जेल-जीवन का चक्कर शुरू हुआ, किन्तु जव कभी वाहर रहता, शिवजी को प्रणाम कर आता। शिवजी ने सदा स्नेह की वर्षा की और मेरी तथा मेरे परिवार की शुभकामना करते रहे। उनकी शुभकामना सदा सुफलदायिनी रही है, यह मैं निस्संकोच कह सकता हू।

कुछ नवयुवको ने छपरा मे एक कालेज खोला, जिसका नामकरण वर्तमान राष्ट्रपति के नाम पर 'राजेन्द्र कालेज' किया गया। उन नवयुवको ने चाहा कि उसके हिन्दी-विभाग मे शिवजी को ले जायं, किन्तु दिक्कत यह थी कि उन दिनो तक पटना-विश्वविद्यालय का अध्यापक वही हो

सकता था जो एम. ए हो। उन नौजवानो ने दौड़-धूप की और सबसे पहली बार शिवजी के लिए ही विश्वविद्यालय ने इस नियम को ढीला किया। तब से तो रास्ता ही खुल गया और हिन्दी के कितने ही लेखक और कवि कालेजो मे प्रोफेसर और प्रिंसिपल बनाये गए।

जब १९४६ में मैं पूर्णतः कारामुक्त हुआ, बिहार से एक अच्छा साहित्यिक मासिकपत्र निकालने की धुन में लगा। मेरा प्रयत्न सफल हुआ और बड़े ठाटबाट से 'हिमालय' निकला, जिसके सम्पादकद्वय मे शिवजी और मेरा नाम छपा। 'हिमालय' के सम्पादक के रूप में शिवजी की साहित्यिक प्रतिभा की पूरी झलक हिन्दी-संसार को मिली, यद्यपि उनकी सेवाओ से तो हिन्दी-ससार पूर्णतः परिचित था ही। दुख की बात है, 'हिमालय' भी असमय मे ही तिरोहित हो गया। शिवजी फिर अध्यापन में लग गए।

इसी समय बिहार मे 'राष्ट्रभाषा परिषद' की स्थापना की बात चली। हिन्दी के कई ख्यातिनामा दिग्गज विद्वानो से उसके मंत्रित्व के लिए पत्राचार होने लगे! किन्तु अन्त में शिवजी को ही इस पद के लिए वरण किया गया।

मैं ही यह दावा नही करता, सभी जानकार लोगो ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि पाच-छः वर्ष की छोटी अवधि में ही, शिवजी के मत्रित्व मे, बिहार राष्ट्रभाषा परिपद ने हिन्दी की जो सेवाए की हैं, वे अनुपम हैं! लगभग दो दर्जन अच्छे से-अच्छे प्रामाणिक ग्रन्थ निकाले गए हैं, हिन्दी ससार के जाने-माने विशेषज्ञ विद्वानो से सपुरस्कार भापण दिलाये गए हैं, उत्तमोत्तम पुस्तको को पुरस्कृत किया गया है, वयोवृद्ध साहित्य-सेवियो को पन्द्रह-पन्द्रह सौ रुपयो की थैली के साथ सम्मानित कया गया है, होनहार लेखकों और विद्यार्थियो को उत्साहित करने के लिए उन्हे अच्छी रकमे पुरस्कार-स्वरूप दी गई हैं। हिन्दी-सस्थाओ को तथा सकट-ग्रस्त साहित्यिको को सहायता देने का भी सिलसिला कायम कया गया है। भिन्न-भिन्न भापाओ के विद्वानो को बुलाकर, उनसे नकी भापाओ पर भाषण दिलवाकर तथा उन्हे योग्य सम्मान देकर

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद ने हिन्दी में एक विल्कुल नई परम्परा ही स्थापित की है।

विहार राष्ट्रभाषा परिषद् के मन्त्रित्व काल में ही अचानक शिवजी बीमार पडे और डाक्टरो ने उस बीमारी को राजयक्ष्मा घोषित किया। मैं कही बाहर था। जव लौटा तो पाया, वह अस्पताल मे हैं और ऐसी सगीन हालत है कि कभी भी हमें छोडकर महाप्रस्थान कर सकते हैं। किन्तु हमारा सौभाग्य कि थोडे ही दिनो मे शिवजी की स्थिति सुधर गई। उस संघातक रोग से मुक्त होकर वह फिर परिषद की सेवा में तत्पर हैं!

शिवजी की तरह शब्दो का शिल्पी हिन्दी-ससार मे शायद ही कोई हो। भाषा की विशुद्धता के तो वह आचार्य हैं। यही कारण है कि जव काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प० महावीरप्रसाद द्विवेदी को अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का निर्णय किया तो उस ग्रन्थ का सम्पादन-भार शिवजी को ही सौपा गया। राष्ट्रपति श्रद्धेय राजेन्द्रवावू की 'आत्म-कथा' हिन्दी-संसार के सम्मुख आने के पहले शिवजी की लेखनी के नीचे से गुजरी। एक युग तक विहार से जो भी अच्छी पुस्तकें निकली, वे शिवजी की लेखनी का प्रसाद पाती रही।

शिवजी की तरह सुन्दर लिपि लिखनेवाले हिन्दी-संसार मे कम ही मिलेंगे। अपने सम्पादक-जीवन में मैंने सव आचार्यों की लिपिया देखी हैं, प र ऐसे गोल-गोल सुडौल मोती के दाने-से अक्षर अन्यत्र नही मिले। जल्दी-जल्दी में लिखे, उनके सात-आठ पृष्ठो के पत्र देखे हैं, किन्तु कही काट-कूट का नाम नही! मानो उनके विचार, भाषा और लिपि में तदात्मता स्थापित हो चुकी हो!

परिश्रमशीलता का यह हाल कि अव, जवकि उनकी काया जर्जर हो चुकी है, आखो ने वहुत-कुछ ज्योति खो दी है, थोडा घूमने के वाद भी वह अशक्तता का अनुभव करते हैं, जोर से वोल भी नही सकते, तो भी दिन-रात काम में अपने को जोते रहते हैं—यद्यपि सभी चाहते हैं कि वह पूर्ण विश्राम करें। उनकी उपस्थिति ही परिषद के लिए वहुत है। परिषद के सचालक-मण्डल ने भी उनसे वार-वार कहा, किन्तु कौन सुनता है? कार्य ही उनका जीवन वन गया हो जैसे!

लगभग चालीस वर्ष से शिवजी विहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री संकलित करने में लगे थे। सुयोग्य सहायकों की सहायता से आजकल उसे ग्रन्थ का रूप देने मे जुट पडे हैं। तीन खण्डो में पूर्ण होने वाला यह ग्रन्थ विहार के लिए गौरव-ग्रन्थ होगा, इसमें सन्देह नही।

शिवजी शतायु हो!

: १५ :

कोई हँसना इनसे सीखे ?

मानव-वश की विशेषताओ में हसी की भी गिनती होती है। सभी प्राणियो में मनुष्य ही हँसता है, ऐसा लोगो का विश्वास रहा है। यद्यपि इस धारणा का खडन श्री जगदीशचन्द्र वसु के प्रयोगो ने कर दिया है और अब माना जाने लगा है कि जीव-जन्तु की क्या बात, पेड-पौधे भी हँसते हैं। किन्तु तो भी मनुष्य की हँसी, उनकी अन्य कई खूवियो की तरह, कुछ और ही है। उच्च अट्टहास से लेकर मधुर मुस्कान तक, हास्य की एक ऐसी सरणी उनके जीवन से जुडी है कि जब-जब उनकी कल्पना कीजिए, विस्मय-विमुग्ध हो जाना पडता है! जीव-जन्तु के जीवन में भी हास्य की धारा प्रवाहित होती होगी, पेड-पौधो के रेशो मे भी गुदगुदी दौड़ती होगी, मानता हू। किन्तु कभी जोरों का ठहाका लगाकर छतो को हिला देना, कभी खिलखिलाहट से सारे कमरे को फूलो की सुवास से भर देना और कभी हल्की मुस्कराहट से किसी के दिल को जीत लेना, यह वरदान तो मनुष्य को ही मिला है।

और, यदि यह वरदान है तो हम मानवो मे, जिनमे कुछ लोगो पर इसकी अजस्र वर्षा की गई, उनमें स्वर्गीय पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम पहली पक्ति में लिखा जायगा। जैसी उन्मुक्त हँसी मैंने चतुर्वेदीजी में पाई थी, वैसी हँसी अन्यत्र नही मिली। चतुर्वेदीजी को उनके जीवन में ही 'हास्यरसावतार' की उपाधि हिन्दी संसार ने सर्वसम्मति से दे रखी थी। वह जहा भी रहते, हँसी की फुलझरिया छूटती रहती। जिस साहित्य-गोष्ठी मे वह पहुच जाते, वहा का सारा वातावरण ही हास्य-रस से ओतप्रोत हो जाता। जहा चतुर्वेदीजी हो, वहा मनहूसियत रह नही सकती थी।

प्रकृति ने उन्हे ऐसा रूप दिया था, जिसपर हँसी वैसी ही खिलती थी, जैसी कुमुद वन में शरद की शुभ्र चादनी खिलती है। गोरा-चिट्टा

चेहरा, सजे-संवारे बाल, सिर पर कलगीदार मुरेठा, पतली भवों के नीचे हँसती हुई आखें, उनपर सुनहले फ्रेम का चश्मा, काली मूछें, पंक्तिबद्ध चौकोर, चमकीले दांत, छोटी ठुड्डी—मैंने १९१८ में, जबकि वह बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व कर रहे थे, उन्हें इस रूप में देखा था। सभापति को गम्भीर होना चाहिए, यह धारणा तो आजतक बनी हुई है, किन्तु जब चतुर्वेदीजी अगणित मालाओ से लदे, अपना सभापति का भाषण सुनाने को उठे, और, एक मन्द मुस्कराहट से, सोनपुर मेले में आये किर्लोस्कर नाटक भवन के उस विशाल हॉल में ठसाठस भरे हुए प्रतिनिधिओं और दर्शकों की ओर देखा तो ऐसा लगा कि सबके हृदय का वह तार छू गया, जो आनन्द की लहर दौडा देता है और जब उन्होने भाषण शुरू किया तो लोग भाव-विमुग्ध ही नही बने रहे, बल्कि बीच-बीच में सभाभवन अट्टहास मे गुंजित होता रहा।

इसके थोड़े दिनो के बाद ही मुझे कलकत्ता जाने का सुअवसर मिला और अपनापे का ख्याल कर मैंने चतुर्वेदीजी के साथ ठहरने का बचपना कर लिया। वहा देखा, उसका घर भी सदा हँसी से गुंजायमान होता रहता। अपने मित्रो और समवयस्को से ही नही, बच्चो और घर के नौकरों से भी चुहलें करने से वह न चूकते और वह घटना तो लिपिबद्ध हो चुकी है कि किस प्रकार एक दिन उनकी धर्मपत्नी अपने दोनों बेटों को बड़े प्रेम से खिला रही थी और वह तालियां बजाकर गा रहे थे—

कल्लू-मल्लू दोनों भाई बैठ प्रेम से खाते हैं,
बैठी माता खिला रही हैं, खड़े पिताजी गाते हैं।

उनके लेखों मे, कविताओं मे भी हँसी और विनोद का पुट सर्वत्र मिला करता था। 'भारतमित्र' में एक स्थायी शीर्षक के अन्तर्गत वह सदा 'मौजीराम' के नाम से चुटकुले लिखते थे। उन चुटकुलो को पढ़ने के लिए भी लोग 'भारतमित्र' खरीदते थे। हिन्दी साहित्य मे विनोद का ऐसा कोई प्रसंग नही आता था, जो चतुर्वेदीजी के विनोदी नेत्रों से बच जाय।

उस समय भी हिन्दी शैली की दो धाराएं चलती थी, एक संस्कृतनिष्ट जिसके आचार्य द्विवेदीजी थे और एक जनसाधारण की बोली से

मिलीजुली जिसके आचार्य थे वालमुकुद गुप्त, 'भारतमित्र' के सम्पादक। स्वर्गीय चतुर्वेदी श्री गुप्तजी के सहयोगी थे और श्री श्यामसुन्दरदासजी द्विवेदीजी के समर्थक। द्विवेदीजी उस समय 'सरस्वती' का सफल सम्पादन कर रहे थे, जिसके जोड़ का सम्पादन आजतक किसी पत्र-पत्रिका का नही देखा। द्विवेदीजी ने अपनी पत्रिका में श्यामसुन्दरदासजी का चित्र छापा और उनके नीचे यह पद्य लिखा—

मातृभाषा के विशारद विमल बी० ए० पास
सौम्य शील निधान वावू श्यामसुन्दरदास !

इस पद्य की पैरोडी किये विना स्वर्गीय चतुर्वेदीजी किस तरह रह सकते थे और सवसे ऊचा हास्य तो वह है जो अपने ऊपर किया जाय ! चतुर्वेदीजी ने झट अपने बारे मे यह छपवाया—

पितृभाषा के बिगाड़क सफल एफ० ए० फिस्स।
जगन्नाथप्रसाद वेदी वीस कम चौव्विस—

वेदी वीस कम चौव्विस, याने चतुर्वेदी !

छेड़खानी करने में तो चतुर्वेदीजी लासानी थे। एक वार कलकत्ता मे वगीय साहित्य सम्मेलन के उत्सव पर एक वंगाली विद्वान ने यह कह दिया कि वगला भाषा जैसी काव्यमयी भाषा कोई है ही नही और उदाहरण मे वताया कि किस तरह उसमे स्वाभाविक अनुप्रासो की भरमार है। कलकत्ता मे कही गई इस वात को कलकत्ता में रहते हुए चतुर्वेदीजी किस तरह वर्दाश्त कर सकते थे ! झट एक लेखमाला ही शुरू कर दी 'अनुप्रास का अन्वेपरण', जिसमें यत्रतत्रसर्वत्र अनुप्रास की भरमार खोज निकाली। अनुप्रास से उन्हे वहुत अनुराग भी था। अपनी साधारण चिट्ठियो में भी वह सदा अनुप्रासमय भाषा लिखा करते थे और उनका 'व की वहार' वाला लेख तो वहुत प्रचलित है ही, जिसे उन्होने यो शुरू किया था—"वाकीपुर की वाकरगज मे वनवारी नाम का एक वनिया था।" पूरे चार पृष्ठो का वह लेख 'वकार' से ही भरा पडा है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कोई अधिवेशन ऐसा नही होता था, जिसमे वे सम्मिलित नही होते थे और सभापति के चुनाव का प्रस्ताव प्रायः वही रखते थे। उस अवसर पर एक ऐसा छोटा-सा भाषण देते थे

कि लोग लोटपोट हो जाते थे। यो जवतक वह जीवित रहे, सम्मेलन का शुभारम्भ हँसीखुशी से ही होता था। इन भाषणो में सभापति के नाम को लेकर भी कुछ चुटकुले जरूर कसते थे। जव प० मदनमोहन मालवीय सभापति हुए तो उनके नाम की अनेक व्याख्याओं के साथ एक व्याख्या यह भी की, मद न, मोह न—जिसमे न मद हो, न मोह।

जव चतुर्वेदीजी सम्मेलन के लाहौर अधिवेशन के सभापति चुने गए तो अपने भापण मे हिन्दी व्याकरण की त्रुटियो पर विशेष ध्यान दिया। भाषा और मुहावरे की शुद्धता के लिए चतुर्वेदीजी हमेशा चौकस रहते थे और उनमे जरा भी त्रुटि वर्दाश्त नही करते थे। इस भाषण को पढकर पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने कुछ दोहे लिखे। भाषण मे चतुर्वेदीजी ने स्वरचित एक ब्रजभाषा की कविता दी थी, जिसमे जगनाथ (जगन्नाथ नही) का प्रयोग हुआ था। महाकवि शंकर ने लिखा,

हिन्दी का व्याकरण है, अभिभाषण के साथ,
मौजी मौज समाज से, सिद्ध हुआ 'जगनाथ'।

शंकर के इस पद्य से चतुर्वेदीजी का ब्रह्म जगा। उन्होने लिखा—

शंकर अव सठिया गया भूल गया है ज्ञान,
जगन्नाथ के भात का करता है अपमान।

वात वढी। पद्य-पर-पद्य गढ़े जा रहे थे। यह प्रसंग कुछ ऐसा तीखा होने लगा तो दोनो के मित्रो ने वीचविचाव कर इसे वंद किया।

किन्तु, सच वात तो यह है कि चतुर्वेदीजी के हृदय में कही कटुता थी ही नही। 'मौजी' उपनाम उन पर सोलह आने फवता था। वह सफल अभिनेता भी थे। चेहरे पर तरह-तरह का मोड देना उनके लिए वहुत आसान था। कलकत्ता-सम्मेलन के अवसर पर जव उनका 'समाज' नामक नाटक खेला गया तो उसमे चतुर्वेदीजी ने स्वयं भी पार्ट लिया।

हमारे पूर्वजों की वह उन्मुक्त हँसी और जिन्दादिली हमारे जीवन में उतरे और हमारे अनुवर्ती उनका अनुसरण करें, यही हमारी कामना है!